

5.2



श्रीअरविंद

ईशावास्योपनिषद्

श्रीअरविंद सोसायटी

पांडिचेरी





श्रीअरविंद

ईशावास्योपनिषद्



श्रीअरविंद सोसायटी

पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९९१

मूल्य : रु. २०.००

ISBN 81-7060-042-1

© श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी—६०५००२
प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

सूची

उपनिषद् की भूमिका	५
ईशावास्योपनिषद्	२०
सूत्रों में उपनिषद्	१८
ईश का रहस्य	१०८
ईशावास्यम्	१११
कर्मयोगी : अध्याय-१ (ईशोपनिषद् पर भाष्य) —	
१. सब कुछ ईश, सब जगह ईश	११५
२. ईश	११७
३. ईश और उसका विश्व	१२१
४. मनुष्यों और सभी प्राणियों में भगवान्	१२४
५. निःस्वार्थता, कर्मयोग का आधारभूत नियम	१२८
६. परहितवाद का दार्शनिक औचित्य	१३१
७. त्याग का अर्थ	१३४
कर्मयोगी : अध्याय २ —	
१. कर्म द्वारा मुक्ति	१३९
२. वैराग्य	१४३
३. तीन नहीं, एक ही मार्ग	१४९
४. कर्म द्वारा मुक्ति का निषेध	१५१
५. मुक्ति और जीवन-मुक्त	१५७
६. आत्महत्या और परलोक	१६१
७. सिंहावलोकन	१६६



उपनिषद् की भूमिका

उपनिषद् भारतीय मानस की सर्वोत्कृष्ट कृति है और यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उसके अनुपम मानस और आत्मा के असाधारण मोड़ का साक्षी है कि उसकी प्रतिभा की उच्चतम आत्माभिव्यक्ति, उसका श्रेष्ठतम काव्य, उसके विचार और शब्द की बड़ी-से-बड़ी रचना कोई साधारण कोटि की साहित्यिक या काव्यात्मक उत्कृष्टतम कृति न होकर इस प्रत्यक्ष और गभीर स्वरूपवाले आध्यात्मिक अंतःप्रकाश की बाढ़ हो। गभीरतम आध्यात्मिक अनुभूतियों का अभिलेख होने के नाते उपनिषद् एक ही साथ गभीर धार्मिक पवित्र ग्रंथ, अक्षय प्रकाश, शक्ति और विशालता के अंतःप्रकाशात्मक और अंतर्भासात्मक दर्शन के प्रलेख हैं। ये चाहे पद्य में लिखे गये हों या लयात्मक गद्य में पर हैं चरम, अविरत प्रेरणा की आध्यात्मिक कविताएं, अपनी शैली में अपरिहार्य, अभिव्यंजना और लय में अद्भुत। यह ऐसे मन की अभिव्यक्ति है जिसमें दर्शन, धर्म और काव्य एक बना दिये गये हैं क्योंकि यह धर्म एक संप्रदाय के साथ समाप्त नहीं हो जाता और न ही वह धार्मिक-नैतिक अभीप्सा में सीमित है। वह भगवान् की, स्व की, हमारी आत्मा और सत्ता की उच्चतम और पूर्ण सद्बस्तु की अनंत खोज की ओर उठता है और ज्योतिर्मय ज्ञान के आनंद तथा प्रेरित और परिपूर्ण अनुभूति के आनंद से भरकर बोलता है। यह दर्शन सत्य के बारे में कोई अमूर्त भौतिक चिंतन या न्यायसंगत बुद्धि की रचना नहीं है। वह है देखा हुआ, अनुभव किया हुआ, जिया हुआ, अंतर्तम मन और अंतरात्मा में निश्चित शोध और स्वत्व के कथन के आनंद में संजोया हुआ सत्य। यह काव्य सौंदर्य-बोधात्मक मन की कृति है जो विरलतम आध्यात्मिक आत्म-दर्शन और आत्मा और भगवान् और विश्व के गभीरतम प्रबुद्ध सत्य के आश्चर्य और सौंदर्य को अभिव्यक्त करने के लिये अपने सामान्य क्षेत्र से ऊपर उठा लिया गया है। यहां वैदिक द्रष्टाओं का अंतर्भासात्मक मन और घनिष्ठ मनोवैज्ञानिक अनुभूति एक चरम पराकाष्ठा में जा पहुंचते हैं जहां, कठोपनिषद् के शब्दों में आत्मा अपना शरीरतक अनावृत कर देती है, अपनी आत्माभिव्यक्ति के

शब्दतक को प्रकट करती है और मन के लिये लय-ताल के उन स्पंदनों को प्रकट कर देती है जो आध्यात्मिक श्रवण के भीतर अपने-आपको दोहराते हुए अंतरात्मा का निर्माण करते हुए प्रतीत होते हैं और उसे आत्म-ज्ञान के शिखरों पर संतुष्ट और पूर्ण रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

उपनिषदों की इस विशिष्टता पर बहुत बल देते हुए आग्रह करने की जरूरत है क्योंकि विदेशी अनुवादकों ने इस विशिष्टता की अवहेलना की है, वे विचार-दृष्टि के जीवन और आध्यात्मिक अनुभूति के आनंद का अनुभव किये बिना उनके बौद्धिक अर्थ करते हैं। लेकिन इन्हीं चीजों ने इन प्राचीन मंत्रों को उस समय, और आज भी उनके लिये जो उस तत्त्व में प्रवेश पा सकते हैं जिसमें ये कथन व्याप्त हैं, केवल बुद्धि के लिये नहीं बल्कि अंतरात्मा और संपूर्ण सत्ता के लिये अंतःप्रकाश बनाया, उन्हें बौद्धिक विचार और उक्ति नहीं बल्कि श्रुति, आध्यात्मिक श्रवण और प्रेरित धर्मग्रंथ बनाया। आज उपनिषद् के दार्शनिक विषय के मूल्य की सराहना पर ज्यादा जोर देने की जरूरत नहीं है क्योंकि, चाहे बड़े-से-बड़े मनस्वियों द्वारा पर्याप्त स्वीकृति में कमी होती फिर भी, दर्शन का सारा इतिहास अपनी साक्षी देने के लिये प्रस्तुत होता। उपनिषद् बहुत-से ऐसे गंभीर दर्शनों और धर्मों के माने हुए स्रोत हैं जिन्होंने भारत में अपने हिमालय के पालने में से बहती हुई नदियों की तरह लोगों के मन और प्राण को उर्वर बनाते हुए, उसकी अंतरात्मा को शक्तियों के लंबे जुलूस में जीवित रखा, वे हमेशा उन्हींकी ओर प्रकाश के लिये लौटते रहे। नया प्रकाश देने में कभी कोई कसर नहीं रखी। ये जीवनदाता जलों के अक्षय स्रोत हैं। अपने समस्त विकास के साथ बौद्ध धर्म उसकी अनुभूति के एक पक्ष की एक पुनरुक्ति मात्र था, यद्यपि था एक नये दृष्टि-बिंदु से और बौद्धिक व्याख्या की ओर तर्क की नयी परिभाषाओं में। इस तरह बौद्ध धर्म इसका रूप बदलकर, परंतु इसके वास्तविक अर्थ में न के बराबर हेरफेर कर उसे समस्त एशिया और पश्चिम में यूरोपतक ले गया। पाइथागोरस और प्लेटो के विचारों के अधिकांश में उपनिषदों के विचारों को फिर से खोजा जा सकता है और नूतन प्लेटोनिज़्म और गूढ़ ज्ञानवाद का गहनतम अंश इन्हीं से बना है, जिसका पाश्चात्य दार्शनिक

उपनिषद् की भूमिका

विचार पर बहुत प्रभाव पड़ा है। सूफीवाद उन्हीं बातों को एक और धार्मिक भाषा में दोहराता है। जर्मन तत्त्वज्ञान का अधिकांश अपने सारतत्त्व में उन महान् वास्तविकताओं के बौद्धिक विकास से बढ़कर कुछ नहीं है जिन्हें इस पुरातन शिक्षा में अधिक आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया था। आधुनिक विचार अधिक निकट, अधिक सुजीव और ऐसी तीव्र ग्रहणशीलता के साथ उन विचारों को तेजी के साथ आत्मसात् करता जा रहा है जो दार्शनिक और धार्मिक चिंतन में एक क्रांति का विश्वास दिलाती है। यहांपर वे चिंतन अनेक परोक्ष प्रभावों के द्वारा रिस-रिस कर घुस रहे हैं और कहीं धीरे-धीरे—सीधी, खुली धाराओं में से बह रहे हैं। शायद ही कोई मुख्य दार्शनिक विचार हो जिसका प्रमाण, बीज या संकेत अतीत के इन लेखों में न हो—और एक दृष्टि के अनुसार ये ऐसे विचारकों के चिंतन हैं जिनके विचारों के पीछे अनगढ़, बर्बर, प्राकृतिक, सर्वजीववादी के अज्ञान के सिवा कोई और अतीत या पृष्ठभूमि न थी। और विज्ञान के अधिक बड़े सामान्यीकरण सदा भारतीय मनीषियों के भौतिक प्रकृति के सूत्रों के सत्य पर लागू होते हैं जिनका अन्वेषण उन्होंने अपने मौलिक, अपने महानतम अर्थों में आत्मा के गहन सत्य में किया था।

फिर भी ये ग्रंथ बौद्धिक प्रकार के दार्शनिक चिंतन नहीं हैं, यह ऐसा तत्त्वज्ञानात्मक विश्लेषण नहीं है जो धारणाओं की परिभाषा करने, विचारों को चुन लेने और उनमें जो सच्चे हैं उन्हें छोट लेने, सत्य को तर्कसंगत बनाने या मन को अपनी बौद्धिक पसंदों में द्वंद्वात्मक तर्क द्वारा सहारा देने के लिये श्रम करता है और सत्ता का किसी-न-किसी विचार के प्रकाश में एक अनन्य समाधान खोजकर और सभी चीजों को उसी दृष्टिकोण से, उसी केंद्र-बिंदु और निर्णायक परिप्रेक्ष्य से देखकर संतुष्ट होता है। अगर उपनिषद् उस प्रकार के होते तो उनमें ऐसी अमिट प्राणशक्ति न होती, उनका इतना अमोघ प्रभाव न होता, वे ऐसे परिणाम न ला पाते और यह न देख पाते कि उनकी उक्तियां स्वतंत्र रूप से अन्वेषण के अन्य क्षेत्रों में अपना औचित्य सिद्ध कर रही हैं और वह भी बिल्कुल विपरीत तरीकों से। इसका कारण यह है कि इन द्रष्टाओं ने सत्य के बारे में सोचा नहीं उसके दर्शन किये थे। उन्होंने उसे

अंतर्भासीय विचार के सशक्त शरीर और प्रकट करनेवाले बिंब से आवृत्त जरूर किया परंतु ऐसे आदर्श पारदर्शक शरीर से जिसके द्वारा हम असीम को देख सकते हैं, क्योंकि उन्होंने चीजों को आत्मसत्ता के प्रकाश में अवगाहा और अनंत की आंखों से देखा, इसलिये उनके शब्द हमेशा सजीव और अमर, अक्षय महत्त्ववाले, अनिवार्य प्रामाणिकता, संतोषजनक निश्चयात्मकतावाले होते हैं, और यही सत्य का अनंत आरंभ होता है। अपने अंततक पहुंचनेवाली हमारे अन्वेषण की सभी रेखाएं उसी सत्य पर जा पहुंचती हैं जिसकी ओर मानवजाति अपने मन में और महानतम अंतर्दर्शनों के युगों में निरंतर लौटा करती है। उपनिषद् वेदांत हैं, वेदों से भी उच्चतर कोटि के ज्ञान के ग्रंथ हैं लेकिन गहनतर भारतीय शब्द 'ज्ञान' के अर्थ में। ज्ञान का अर्थ केवल बुद्धि द्वारा सोचना-विचारना नहीं, केवल बौद्धिक मन द्वारा सत्य के मानसिक रूप का अनुसरण और ग्रहण नहीं है बल्कि अंतरात्मा द्वारा उसके दर्शन और आंतरिक सत्ता को शक्ति के साथ उसमें पूर्ण निवास, ज्ञान के विषय के साथ एक तरह के तादात्म्य द्वारा आध्यात्मिक ग्रहण है। और चूंकि इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान केवल आत्मा के पूर्ण ज्ञान द्वारा ही पाया जा सकता है और पूर्ण किया जा सकता है इसीलिये वेदांती ऋषि उसके साथ तादात्म्य द्वारा उसे जानना, उसमें निवास करना और उसके साथ एक होना चाहते थे। और इस प्रयास द्वारा वे आसानी से देख पाये कि जो आत्मा हमारे अंदर है वह सभी वस्तुओं की वैश्व आत्मा के साथ एक है, और यही आत्मा ही भगवान्, ब्रह्म, परात्पर सत्ता या सत् है। उन्होंने इस एक और एक करनेवाले अंतर्दर्शन के प्रकाश में विश्व की सभी चीजों और मनुष्य के आंतरिक और बाह्य अस्तित्व के अंतर्तम सत्य को देखा, अनुभव किया और उसमें निवास किया। उपनिषद् आत्मज्ञान, जगत्-ज्ञान और भागवत-ज्ञान के महाकाव्यात्मक सूक्त हैं। वे दार्शनिक सत्य के जिन महान् सूत्रीकरणों से भरे हैं वे अमूर्त बौद्धिक सामान्यीकरण नहीं हैं, ऐसी चीजें हैं जो चमक सकती और मन को प्रकाशित कर सकती हैं परंतु जीवित नहीं हैं और अंतरात्मा को आरोहण की ओर गति नहीं देतीं। वे उत्ताप के साथ-ही-साथ अंतर्भासात्मक और अंतःप्रकाशात्मक ज्योति के प्रकाश हैं,

एकमेव सत् के परात्पर परम देव, भागवत और वैश्व आत्मा के प्रसारण और दर्शन हैं तथा इस महान् वैश्व अभिव्यक्ति को वस्तुओं और उसके प्राणियों के साथ उसके संबंध के अन्वेषण हैं। ये अंतःप्रेरित ज्ञान के गीत सभी भजनों की तरह धार्मिक अभीप्सा और आनंद के भावस्वर से अनुप्राणित हैं, परंतु निम्नतर धार्मिक भाव के संकीर्ण रूप से तीव्र भाव से नहीं, वादों से परे और भक्ति के विशेष रूपों से नहीं बल्कि भगवान् के उस वैश्व आनंद से अनुप्राणित हैं जो स्वयंभू और वैश्व आत्मा के उपगमन और ऐक्य से हमारे पास आता है। बौद्ध धर्म और परवर्ती हिंदू धर्म के समस्त उच्चतम नैतिकवाद यद्यपि मुख्य रूप से आंतरिक दृष्टि के साथ ही संबंध रखते हैं और प्रत्यक्ष रूप से बाह्य मानव क्रिया से नहीं, फिर भी वे जिन सत्तों को व्यंजकरूप और शक्ति प्रदान करते हैं उन्हींके जीवन और अर्थपूर्ण निर्गमन हैं। और किसी भी नैतिक नियम और सद्गुण के मानसिक नियम से बढ़कर है भगवान् तथा सभी जीवित सत्ताओं के ऐक्य पर आधारित आध्यात्मिक कर्म का परम आदर्श। इसीलिये जब वैदिक धर्म के रूपों में से जीवन चला गया तब भी उपनिषद् जीवित और सृजनशील बने रहे और महान् धार्मिक संप्रदायों को जन्म दे सके और धर्म के भारतीय विचार को दृढ़ रख सके।

उपनिषद् अंतःप्रकाशात्मक और अंतर्भासात्मक मन और उसकी ज्योतिर्मय अनुभूति के सृजन हैं। उनका समस्त विषय, रचना, भाषा, अलंकार-योजना, गति मौलिक प्रकृति द्वारा निश्चित और उसकी छाप लिये रहते हैं। ये सर्वोत्कृष्ट और सर्वग्राही सत्य, ऐक्य, आत्मा और वैश्व भागवत सत्ता के ये अंतर्दर्शन संक्षिप्त और अत्यंत महत्त्वपूर्ण वाक्यों में ढाले गये हैं जो उन्हें तुरंत अंतरात्मा की आंख के आगे ले आते हैं और उन्हें उसकी अभीप्सा और अनुभूति के लिये वास्तविक और आदेशात्मक बना देते हैं या फिर वे काव्यात्मक वाक्यों में व्यक्त किये गये हैं जो प्रकट करनेवाली शक्ति और संकेतात्मक विचार-रंग से भरे हैं जो सांत बिंब द्वारा समस्त अनंत की खोज करते हैं। वहां एकमेव प्रकट होता है लेकिन साथ ही बहुरा से पक्ष भी प्रकट होते हैं और प्रत्येक को अभिव्यक्ति के प्राचुर्य के कारण अपना पूरा-

पूरा महत्त्व मिलता है। और मानों सहज आत्मशोध में हर शब्द और पूरे वाक्यांश के बोधदायक औचित्य में अपना स्थान और अपना संबंध पा लेता है। अंतःप्रेरित गति में बड़े-से-बड़े तत्त्वज्ञानात्मक सत्य और मनोवैज्ञानिक अनुभूति की सूक्ष्मतम सूक्ष्मताएं आ जाती हैं और उन्हें एक ही साथ निरीक्षण करनेवाले मन के लिये यथार्थ और शोध करनेवाली आत्मा के लिये अंतहीन संकेतपूर्ण बना दिया जाता है। पृथक् उक्तियां, मुहावरे, एक-एक श्लोक, संक्षिप्त परिच्छेद हैं जो अपने अंदर एक महान् दर्शन का सारतत्त्व लिये हैं, फिर भी हर एक अनंत आत्म-ज्ञान के एक पार्श्व, एक पक्ष, एक भाग के रूप में प्रकट किया गया है। यहां सब कुछ खचाखच भरा हुआ और अर्थ-गर्भित होते हुए भी पूरी तरह सुबोध, प्रकाशमय संक्षेप, और अपरिमेय पूर्णता है। इस प्रकार का विचार तार्किक बुद्धि के धीमे, सावधान और विकीर्ण विकास का अनुसरण नहीं कर सकता। परिच्छेद, वाक्य, श्लोक, चरण, अर्द्ध-चरणतक अपने से पहले के वाक्य, चरण आदि से अव्यक्त विचार से भरे अमुक अंतराल के बाद आता है। दोनों के बीच प्रतिध्वनि करनेवाली नीरवता, एक विचार भरा होता है जो पूर्ण संकेत में चलता है और स्वयं चरण में अंतर्निहित है। मन को मुक्त छोड़ दिया गया है कि वह स्वयं अपने लाभ के लिये इसे कार्यान्वित करे और अर्थगर्भित नीरवता के ये अंतराल विशाल हैं, इस विचार के कदम अनंत जलों के इस पार से उस पारतक की चट्टानोंतक पहुंचनेवाले दानव पगों जैसे हैं। प्रत्येक उपनिषद् की रचना में पूर्ण समग्रता और सामंजस्यपूर्ण भागों का व्यापक संबंध है। परंतु यह एक ऐसे मन के तरीके से किया गया है जो एक ही समय में सत्य की अनेक राशियां देखता है और केवल भरी हुई नीरवता में से आवश्यक शब्द लाने के लिये रुकता है। पद्य या लययुक्त (आरोह अवरोहयुक्त) गद्य का ताल विचार और शैली की मूर्तिकला के अनुरूप होता है। उपनिषदों की छंद रचना चार अर्द्ध-चरणों से बनी होती है जिनमें से हर एक सुस्पष्ट रूप से तराशा हुआ होता है। चरण बहुधा अपने-आपमें पूर्ण होते हैं, भाव में भी पूर्ण होते हैं। अर्द्ध-चरण दो विचार या एक विचार के ऐसे स्पष्ट भाग प्रस्तुत करते हैं जो एक-दूसरे के साथ बंधे होते हैं और

एक-दूसरे को पूरा करते हैं। ध्वनि की गति एक अनुरूप सिद्धांत का अनुकरण करती है। प्रत्येक चरण संक्षिप्त और यति की स्पष्टता से अलग होता है। हर चरण में प्रतिध्वनि करनेवाला आरोह-अवरोह होता है जो आंतरिक श्रुति में बहुत देरतक गूंजता रहता है। उनमें से हर एक मानों अनंत की एक लहर है जो अपने अंदर सागर की समग्र ध्वनि और मर्मर लिये रहता है। यह एक प्रकार की कविता है—दृष्टि का शब्द, आत्मा का ताल—जैसी पहले या बाद में कभी नहीं लिखी गयी।

काफी बड़ी हदतक उपनिषदों के अलंकार वेदों के अलंकारों से विकसित हुए हैं और यद्यपि अधिक सामान्यतः वे प्रत्यक्ष बोधात्मक अलंकारों की अनावृत स्पष्टता को पसंद करते हैं परंतु यह भी विरल नहीं है कि वे उन्हीं प्रतीकों का इस तरह उपयोग करें कि वे प्राचीनतर प्रतीकवाद के तरीके के भाव और कम तकनीकी भाग के अधिक निकटस्थ और सदृश हों। एक बड़ी हदतक यह तत्त्व हमारी आधुनिक चिंतन-विधि की पकड़ में नहीं आता और इसने कुछ पाश्चात्य विद्वानों को चकरा दिया है और उन्हें यह कहने के लिये बाधित किया है कि ये ग्रंथ उच्चतम दार्शनिक चिंतन का मानवजाति के शिशु मानव की प्रथम तुतलाहट के साथ मिश्रण हैं। उपनिषद् वैदिक मन, स्वभाव और आधारभूत विचारों से क्रांतिकारी विचलन नहीं है बल्कि एक सातत्य और विकास और एक हदतक विस्तृत होता हुआ रूपांतर है, मतलब यह कि जो कुछ प्रतीकात्मक वैदिक भाषा में गुप्त और रहस्यात्मक था वे उसे खुली अभिव्यंजना में ले आये हैं। वह वेद और ब्राह्मणों के अलंकारों की ओर कर्म-कांड के प्रतीकों को लेकर शुरू करता है और उन्हें ऐसा मोड़ देता है कि उनका आंतरिक और रहस्यात्मक भाव प्रकट हो जाये जो उसके अपने उच्च रूप से विकसित और अधिक शुद्ध आध्यात्मिक दर्शन के एक प्रकार के चैत्य आरंभ-बिंदु का काम दे। विशेष रूप से गद्यात्मक उपनिषदों में ऐसे बहुत-से प्रसंग हैं जो पूरी तरह इस प्रकार के हैं जो दुरुह, अस्पष्ट, बल्कि आधुनिक समझ के लिये अबोधगम्य तरीके से उस काल के वैदिक धार्मिक मन के लिये प्रचलित विचारों के चैत्य भावों को प्रकट करते हैं। उन्होंने वैदिक त्रयी, त्रिलोक और इसी प्रकार के विषयों को लिया है। वे

उपनिषद् के विचार में गहरे-से-गहरे आध्यात्मिक सत्य की ओर ले जाते हैं, इसलिये हम इन प्रसंगों को बुद्धि की बालोचित निरर्थक तुतलाहट कहकर उड़ा नहीं सकते या यह नहीं कह सकते कि इनका उन उच्चतर विचारों के साथ कोई संबंध नहीं है जो इनका चरम-बिंदु है। इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि एक बार हम उनके प्रतीकात्मक अर्थ को पकड़ सकें तो उनमें एक काफी गहरा अर्थ है। यह चैत्य-भौतिक से ऊपर की ओर गमन करता हुआ चैत्य-आध्यात्मिक ज्ञान में प्रकट होता है। आज हम उसके लिये अधिक बौद्धिक, कम ठोस और बिंबात्मक भाषा का उपयोग करेंगे लेकिन जो लोग योगाभ्यास करते और अपनी चैत्य-भौतिक और चैत्य-आध्यात्मिक सत्ता के रहस्यों का फिर से अन्वेषण करना चाहते हैं उनके लिये यह अर्थ अब भी प्रामाणिक है। चैत्य सत्तों की इस प्रकार की विशेष अभिव्यक्ति के विशिष्ट उदाहरण हैं—अज्ञातशत्रु द्वारा स्वप्न और सुषुप्ति की व्याख्या या प्रश्नोपनिषद् में प्राण तत्त्व और उसकी गतियोंवाले प्रसंग या वे प्रसंग जिनमें वैदिक देवासुर संग्राम को लेकर उसे आध्यात्मिक अर्थ दिया गया है और वैदिक देवों का ऋक् और साम की अपेक्षा अधिक खुले रूप में अपने आंतरिक कार्य और आध्यात्मिक शक्ति के रूप में आह्वान किया गया है।

यहां मैं वैदिक विचार और बिंब के विकास के उदाहरण-स्वरूप तैत्तिरीय उपनिषद् का एक उद्धरण दे सकता हूं जिसमें स्पष्ट रूप से इंद्र दिव्य मन के देव और शक्ति के रूप में प्रकट होते हैं :

“जो विश्व रूप में वैदिक वृषभ है, जो अमर से पवित्र लयों में जन्मा था, ऐसा इंद्र मुझे बुद्धि द्वारा संतुष्ट करे। हे भगवन्, वर दे कि मैं अमर का एक पात्र बन जाऊं, वर दे कि मेरा शरीर दृष्टि से भरा हो, मेरी जिह्वा मधुरता से भरी हो। मैं बहु और बृहत् को अपने कानों से सुन सकूं क्योंकि तू ही ब्रह्म का कोष है जिसे बुद्धि ढके और छिपाये हुए है।”

इसीके सदृश एक और प्रसंग भी ईशोपनिषद् से उद्धृत किया जा सकता है जिसमें सूर्य देव का ज्ञान के देवता के रूप में आह्वान किया गया है जिसकी दीप्ति का चरम रूप है आत्मा का एकत्व और यहां मानसिक स्तर पर फैली हुई उसकी किरणें विचार-मन का चमकता हुआ विस्तार हैं तथा

उसके अपने अनंत अतिमानसिक सत्य को, इस सूर्य के शरीर और आत्मा को, आत्मा और शाश्वत के सत्य को छिपाये रहता है :

“सत्य का चेहरा सुनहरे ढक्कन से छिपा हुआ है : हे पोषण करनेवाले सूर्य, उसे सत्य-धर्म के लिये, दृष्टि के लिये अनावृत कर, हे पूषन्, हे एकमात्र ऋषि, हे नियंत्रण करनेवाले यम, हे सूर्य, हे प्राणियों के पिता के पुत्र, अपनी किरणों को व्यवस्थित कर, उन्हें इकट्ठा कर, मैं तेरे कल्याणतम रूप को देखता हूँ। जो यह पुरुष है, वह मैं हूँ।”

इन उद्धरणों के भेद में वेद के अलंकार और शैली के साथ जो संबंध है वह स्पष्ट ही है। इनमें से अंतिम तो अत्रि के एक वैदिक मंत्र की व्याख्या या परवर्ती और अधिक खुली शैली में अनुवाद ही है :

“सत्य जो हमेशा के लिये स्थिर है, जहां सूर्य के अश्वों को खोला जाता है, वह तुम्हारे सत्य से छिपा हुआ है। वहां दस हजार इकट्ठे खड़े हैं। वही एकमेव है। सशरीर देवों के परम देव को मैंने देखा है।”

हमारे वर्तमान मानस के लिये ये वैदिक और वेदांती अलंकार विजातीय हैं क्योंकि वह प्रतीकों के जीवित सत्य पर विश्वास नहीं करता; क्योंकि बुद्धि द्वारा धमकायी हुई प्रकट करनेवाली कल्पना में अब वह साहस नहीं रहा कि चैत्य और आध्यात्मिक दृष्टि को स्वीकार करके, उसके साथ अभिन्न होकर, साहस के साथ उसे मूर्त रूप दे। परंतु निश्चय ही वह बचकाने, आदिकालीन, बर्बर रहस्यवाद से बहुत दूर है; बल्कि यह स्पष्ट, जीवित, दीप्तिमान रूप से काव्यमय अंतर्भासात्मक भाषा एक बहुत उच्च रूप से विकसित आध्यात्मिक संस्कृति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

उपनिषद् का अंतर्भासात्मक विचार इस ठोस अलंकार और इन प्रतीकों से शुरू होता है। पहले वैदिक ऋषियों के लिये ये गुप्त द्रष्टा-शब्द, द्रष्टा के मन के लिये तो पूरी तरह अभिव्यंजक होते हैं परंतु उनके अत्यंत गहरे अर्थों को सामान्य बुद्धि से ओझल कर देते हैं, उन्हें कुछ कम आच्छादित रूप से अभिव्यंजक भाषा के साथ जोड़ देते हैं; और उनके पार जाकर एक भव्य रूप से प्रकट और श्रेष्ठ बिंब और शैली में जाते हैं जो आध्यात्मिक सत्य को अपने सारे गौरव में प्रकट करते हैं। गद्यात्मक उपनिषद् हमें पहले के

भारतीय मानस की यह प्रक्रिया दिखलाते हैं जिसमें प्रतीक का उपयोग करके और उसके परे जाकर आध्यात्मिक अर्थ को प्रकट रूप में अभिव्यंजित किया जाता है। रहस्यात्मक शब्द 'ॐ' की शक्ति और उसके अर्थ के बारे में, प्रश्नोपनिषद् का यह उद्धरण, इस प्रणाली की प्रारंभिक अवस्था का चित्रण करता है :

“हे सत्यकाम, यह अक्षर 'ॐ' ही परब्रह्म और निम्नतर ब्रह्म है। इसलिये ज्ञानवान् पुरुष ब्रह्म के इस मकान से उस मकान या किसी और में जाता है। और अगर तुम एक अक्षर का ध्यान करो तो उसके द्वारा तुम ज्ञान प्राप्त करते हो और शीघ्र ही उसे धरती पर प्राप्त करते हो। ऐसे को ऋचाएं मनुष्यों के जगत् में ले जाती हैं और वहां तप और ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से पूर्ण होकर वह आत्मा की महानता का अनुभव करता है। अब अगर वह दो अक्षरों से मन में निष्णात हो तो यजु उसे मध्यलोक, सोम के चंद्रलोक में ले जाते हैं। सोम के लोक में वह आत्मा के वैभव का अनुभव करता है और फिर वापिस आता है। और जो तीन अक्षरवाले इस 'ओ३म्' के द्वारा उच्चतम पुरुष पर ध्यान करता है वह उस प्रकाश में पूर्णता पाता है जो सूर्य है। जैसे सांप अपनी केंचुली उतारता है उसी तरह वह अपने पाप और अशुभ से छुटकारा पाता है और उसे साम ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। वह जीवित आत्माओं की इस घनता में से उच्चतम पुरुष को देखता है जो भुवन में लेटा हुआ है। तीन अक्षर मृत्यु से पीड़ित हैं परंतु अब उनका उपयोग अविभक्त और एक दूसरे के साथ युक्त रूप में होता है तब आत्मा की अंतर और बाह्य तथा मध्य क्रिया अपने समग्र उपयोग में पूर्ण हो जाती है। आत्मा जानती है और विचलित नहीं होती। द्रष्टा हमें इहलोक ऋक् द्वारा, मध्यलोक यजु और साम द्वारा दिखलाते हैं। ज्ञानवान् पुरुष ओ३म् द्वारा, जो उसका घर है, उसतक, परम आत्मातक जा पहुंचता है जो स्थिर, अचर, अभय और अमर है।”

यहांपर ये प्रतीक हमारी बुद्धि के लिये अभीतक अस्पष्ट हैं। लेकिन ऐसे संकेत दिये गये हैं जो निःसंदेह रूप से यह बतलाते हैं कि वे ऐसी चैत्य अनुभूति के प्रतिरूप हैं जो आध्यात्मिक उपलब्धि की विभिन्न अवस्थाओं की

ओर ले जाती हैं, और हम देख सकते हैं कि ये तीन हैं : बाह्य, मानसिक और अतिमानसिक। और इनमें से अंतिम के परिणाम-स्वरूप है चरम पूर्णता, अमर आत्मा की शांत शाश्वतता में समस्त सत्ता की समग्र और पूर्ण क्रिया। और बाद में माण्डूक्य उपनिषद् में अन्य प्रतीकों को एक तरफ करके हम अनावृत अर्थ की उपस्थिति में पहुंचते हैं। तब एक ऐसा ज्ञान उभरता है जिसकी ओर आधुनिक ज्ञान अपने एकदम भिन्न बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक उपायों से लौट रहा है। वह यह ज्ञान है कि हमारी बाह्य भौतिक चेतना के कार्यों के पीछे एक और अंतस्तलीय चेतना कार्य कर रही है—जो भिन्न होते हुए भी वही है—और हमारा जाग्रत मन उसकी ऊपरी तथा सतही क्रिया है। शायद हम कह सकते हैं कि ऊपर एक आध्यात्मिक अतिचेतन है जिसमें संभवतः उच्चतम स्थिति और हमारी सत्ता का पूर्ण रहस्य पाया जा सकता है। अगर हम प्रश्नोपनिषद् के उद्धरण को निकट से देखें तो पायेंगे कि यह ज्ञान तो पहले ही मौजूद है और मेरा ख्याल है कि पूरे न्यायसंगत रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि प्राचीन ऋषियों की यह और ऐसी ही अन्य वाणियां, तर्कसंगत मन को वे चाहे जितनी चकरानेवाली क्यों न लें, बचकाना रहस्यवाद कहकर उड़ायी नहीं जा सकतीं। वे उस समय के मानस के लिये उस चीज की स्वाभाविक अलंकारिक अभिव्यक्तियां हैं जिसे अब हमें स्वयं तर्क-बुद्धि अपनी प्रणालियों से सच्चा, बहुत गहरा सत्य और ज्ञान की वास्तविक यथार्थता के रूप में दिखला रही है।

छन्दोबद्ध उपनिषद् इस उच्चस्तरीय आवेशित प्रतीकवाद को जारी रखते हैं और अपने अधिकतर मंत्रों में हल्के-फुल्के रूप में लेकर इस प्रकार के प्रतीकों के पार प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की ओर बढ़ जाते हैं। मनुष्य, प्राणियों और प्रकृति में स्व, आत्मा और देवत्व और समस्त इहलोक, परलोकों और विश्वातीत में उपस्थित, अमर, एकमेव, अनंत के बारे में उसकी शाश्वत परात्परता और बहुविध आत्माभिव्यक्ति के गीत बिना किसी आवरण के गाये गये हैं। धर्म और मृत्यु के देव, यम ने नचिकेता को जो शिक्षा दी थी उसके कुछ उद्धरण उनकी विशिष्टता को चित्रित करने के लिये काफी होंगे :

“यह अक्षर ओ३म् है। यह अक्षर ब्रह्म है, यह अक्षर परम पुरुष है। जो अमर ओ३म् को जानता है, वह जो कुछ चाहे वह उसका होता है। यह अवलंब सबसे अच्छा है, यह अवलंब सबसे ऊंचा है और जब मनुष्य इसे जानता है तो वह ब्रह्मलोक में महान् बन जाता है। सर्वज्ञ का जन्म नहीं होता, वह मरता भी नहीं, न वह कहींसे आया है न वह कोई है। वह अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। वही पुराण पुरुष है, शरीर की हत्या होने से जिसकी हत्या नहीं होती...

वह एक स्थान पर बैठा हुआ दूर-दूर यात्रा करता है और शयन करता हुआ सब जगह जाता है। मेरे अतिरिक्त कौन है जो इस आह्लादकर भगवान् को जानने के योग्य है? बुद्धिमान् व्यक्ति महान् प्रभु को, आत्मप्रतिष्ठित आत्मा को, प्रयाण करते हुए शरीरों में स्थित अशरीरी को पहचान लेता है और फिर कभी दुःख नहीं करता। इस आत्मा को न तो उपदेश द्वारा, न मेधा द्वारा और न ही शास्त्रों के श्रवण से पाया जा सकता है। यह आत्मा जिसे चुनती है केवल उसीके द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है और उसीके सामने यह आत्मा अपने स्वरूप को खोलती है। जिसने दुष्कर्म बंद नहीं किये, जो एकाग्र और स्थिर नहीं है, जिसका मन शांत नहीं है वह उसे मस्तिष्क की बुद्धि द्वारा न पा सकेगा। ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसका भोजन है, मृत्यु जिसके भोज में मसाले हैं, कौन जानता है कि वह कहां है?...

स्वयंभू ने अपने द्वार बाहर की ओर खोले हैं अतः मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अपने भीतर आत्मा को नहीं। कहीं कोई अमरता चाहनेवाला धीर पुरुष अपनी आंखें भीतर की ओर मोड़ता है और आत्मा को आमने-सामने देखता है। बचकाने मन ऊपरी कामनाओं के पीछे चलते हैं और हम सबके लिये फैले हुए मृत्यु के जाल में जा गिरते हैं। लेकिन बुद्धिमान् लोग अमरता के बारे में जानते हैं और अस्थायी चीजों से स्थायी की मांग नहीं करते। व्यक्ति इस आत्मा से रूप, रस, गंध स्पर्श और उसके सुखों को जानता है। तब बचा क्या रहता है? बुद्धिमान् महाप्रभु और आत्मा को जान लेता है जिसके द्वारा व्यक्ति उस सबको देखता है जो अंतरात्मा में है और जगता है, उस सबको भी जो अंतरात्मा में है और स्वप्न लेता है और जिसे

कोई दुःख नहीं रहता। जो आत्मा को जानता है, जीवित सत्ता के निकटस्थ मधुरता के खानेवाले को जानता है, जो था और जो होगा उसके स्वामी को जानता है, वह किसी ऐसी चीज से नहीं सकुचाता जिसका अस्तित्व है। वह उसे जानता है जो वह है जो अतीत में तप से जन्मा था, जो अतीत में जलों से जन्मा था और इन सब प्राणियों के साथ वह सत्ता की गुप्त गुफा में प्रवेश कर गया और उसमें उपस्थित है। वह उसे जानता है जो प्राणशक्ति से जन्मी है, सभी देवों को अपने अंदर लिये हुए अनंत जननी को, उसे जो इन सब प्राणियों के साथ सत्ता की गुप्त गुफा में प्रविष्ट हो गयी और उपस्थित है। यह वह अग्नि है जिसके पास ज्ञान है, वह दो अरणियों में छिपी है जैसे भ्रूण गर्भवती स्त्री में रहता है। यह वह अग्नि है जिसकी आराधना की जानी चाहिये। मनुष्य सोये बिना उसकी रखवाली करते और उसके लिये भेंट-पूजा लाते हैं। यह वही है जिससे सूर्य का उदय होता है और वही जिसमें सूर्य अस्त होता है, जिसमें सभी देवों का आधार है, जिसके परे कोई नहीं जा सकता। जो कुछ यहां है, वह भी सभी अन्य लोकों में है और जो कुछ वहां है, उसके अनुसार, वह सब भी यहां है। जो यहां केवल भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु की ओर जाता है। एक अंगुष्ठमात्र पुरुष मनुष्य की केंद्रीय आत्मा में स्थित है और जो कुछ था और जो कुछ होगा उसका स्वामी है। उसे जान लेने पर मनुष्य उससे नहीं सकुचाता जो है। अंगुष्ठमात्र पुरुष, धूम्रहीन अग्नि जैसा है। जो कुछ था और जो कुछ होगा उसका वही स्वामी है, वही आज है और वही भावी कल होगा।"

उपनिषद् ऐसे परिच्छेदों से भरे हैं जो एक ही साथ काव्य और आध्यात्मिक दर्शन हैं, जो पूर्ण स्पष्टता और सुंदरतावाले हैं लेकिन कोई भी अनुवाद जो संकेतों और मौलिक शब्दों के गंभीर और सूक्ष्म और प्रकाशमय अर्थ की प्रतिध्वनियों तथा ताल और लय से रिक्त हो, उनकी शक्ति और पूर्णता का ख्यालतक नहीं दे सकता। और ऐसे स्थल हैं जिनमें सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य, काव्य की अभिव्यक्ति की पूर्णता में कमी लाये बिना, पूरी पर्याप्ति के साथ अभिव्यक्त किये गये हैं, और हमेशा इस

तरह वे केवल समझनेवाली बुद्धि के आगे प्रस्तुत नहीं किये जाते अपितु मन और अंतरात्मा के आगे जीवित होते हैं। कुछ गद्य उपनिषदों में स्पष्ट वर्णन और परंपरा का एक और तत्त्व है जो हमारे लिये, भले संक्षिप्त झांकी में सही, उस आध्यात्मिक अन्वेषण और उच्चतम ज्ञान के आवेग के लिये असाधारण हलचल और गतिविधि का चित्र प्रस्तुत करता है जिसने उपनिषदों को संभव बनाया। कुछ ही पृष्ठों में प्राचीन जगत् के दृश्य हमारे आगे भी उठते हैं। कुंजों में ऋषि मुनि आनेवाले की परीक्षा लेने और उसे पढ़ाने के लिये बैठे हैं, राजकुमार, विद्वान्, पंडित तथा रईस ज्ञान की खोज में घूम रहे हैं, राजा का पुत्र अपने रथ में और दासी का अवैध पुत्र किसी ऐसे आदमी की तलाश में है जो अपने अंदर प्रकाश का विचार और अंतःप्रकाश का शब्द लिये हो, प्रारूपिक आकार और व्यक्तित्व, जनक और सूक्ष्म मन अजातशत्रु, गाड़ीवाले रेक्व, सत्य के लिये युद्धप्रिय, स्थिर और व्यंग्यमय, बिना आसक्ति के दोनों हाथों से ऐहिक जगत् की धन-संपदा और आध्यात्मिक समृद्धि बटोरनेवाले और अंत में अपनी सारी संपदा पीछे छोड़कर अनिकेत यती की तरह घूमनेवाले याज्ञवल्क्य, देवकी-सुत कृष्ण जिन्होंने घोर ऋषि से एक शब्द सुनकर ही शाश्वत को जान लिया, आश्रम, ऐसे राजाओं की सभाएं जो आध्यात्मिक अन्वेषक और विचारक थे, यज्ञ-समारोह जहां ऋषि-मुनि मिलते और अपने ज्ञान की तुलना करते थे। और हम देखते हैं कि भारत की अंतरात्मा ने कैसे जन्म लिया और यह जन्म-गीत कैसे उठा जिसमें वह अपने धरातल से आत्मा के उच्चतम स्वर्गतक पहुंची। वेद और उपनिषद् केवल भारतीय दर्शन और धर्म के ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय कला, काव्य और साहित्य के भी उद्गम हैं। उनमें रूपायित और अभिव्यक्त अंतरात्मा, स्वभाव, आदर्श मन ने पीछे चलकर महान् दर्शनों को रूप दिया, धर्म के ढांचे को बनाया, महाभारत और रामायण में अंतरात्मा के वीरतापूर्ण यौवन का आलेख किया, मानवता की प्रौढ़ता के शास्त्रीय काल में उसे अथक रूप से बौद्धिक बनाया, विज्ञान में इतने सारे मौलिक अंतर्भासों को प्रकट किया, सौंदर्यग्राही, प्राणिक और ऐंद्रिय अनुभूतियों की इतनी समृद्ध चमक-दमक की रचना की, अपनी आध्यात्मिक और चैत्य अनुभूति

को तंत्रों और पुराणों में फिर से नया रूप दिया, अपने-आपको रंग और रेखा के उत्कर्ष और सौंदर्य में प्रक्षिप्त किया, अपने चिंतन और अंतर्दर्शन को पत्थर और कांसे में ढाला, परवर्ती भाषाओं में अपने-आपको आत्माभिव्यक्ति की नयी-नयी धाराओं में बहाया और अब वह ग्रहण के बाद भिन्नता में भी वही रहते हुए नवीन जीवन और नवीन सृजन के लिये तैयार होकर फिर से उभर रही है।

ईशावास्योपनिषद्

यह सब भगवान् से आवृत्त होना चाहिये, वह सब भी जो इस चलायमान विश्व में जगत् है; अतः कामना को त्याग दे और भोग कर। दूसरे की संपदा के लिये लोलुप न हो।

गुरु—उपनिषद् अपने अंतःप्रकाश के अनिवार्य आधार के रूप में भगवान् की वैश्व प्रकृति की घोषणा करते हैं। शाश्वत यानी ब्रह्म की यह वैश्व प्रकृति वेदांत का अथ और इति है और अगर इसे न स्वीकार किया जाये तो वेदांत जो कुछ कहता है उसका कुछ भी मूल्य नहीं रहता क्योंकि उसके सभी प्रस्ताव या तो यहीं से शुरू होते हैं या कम-से-कम इसे मानकर चलते हैं। इस केंद्रीय उच्चतम सत्य से वंचित होकर उपनिषद् बस वही रह जाते हैं जो म्लेच्छ विद्वान् और दार्शनिक उन्हें मानते हैं—असंगत यद्यपि कभी-कभी उदात्त अटकलों का एक ढेर। शास्त्रों के सबसे अधिक अंधेरे वचनों पर प्रकाश डालने के लिये तुम्हारे हाथ में इस सत्य का दीपक हो जो उपनिषद् के सभी अस्पष्ट वचनों पर प्रकाश डाले, तो तुम शीघ्र ही अनुभव करोगे कि उपनिषद् महान् सामंजस्यपूर्ण और पूर्णतया प्रकाशित संपूर्ण इकाई है जो अपने अंदर एकमेव वैश्व सत्य के विभिन्न पक्षों को व्यक्त करती है; क्योंकि प्रपंच के विभिन्न विरोधों के बावजूद सत्य एक और केवल एक ही है। सभी स्मृतियां, पुराण, दर्शन, धर्म-शास्त्र, शाक्तों, शैवों, वैष्णवों, सौर के ग्रंथ, शास्त्र, समस्त बौद्ध धर्म और उसके शास्त्र उसी एक और अनन्य सत्य के विभिन्न पक्षों की, विभिन्न दृष्टियों से की गयी केवल इतनी सारी व्याख्याएं, टिप्पणियां और टीकाएं हैं। यह सत्य ही वह एकमात्र नींव है जिसपर सभी धर्म ऐसे टिके रह सकते हैं जैसे एक निश्चित और अजेय चट्टान पर टिके हों—बल्कि चट्टान से भी बढ़कर, क्योंकि चट्टान तो नष्ट हो सकती है परंतु यह नष्ट नहीं हो सकता, हमेशा बना रहता है। इसीलिये आर्यों के धर्म को सनातन धर्म कहते हैं। यह हिंदुओं की भूल नहीं है जब वे यह घोषणा करते हैं कि श्रुति शाश्वत है, अनादि है और ऋषि, जिन्होंने

मंत्र बनाये थे, वे केवल सत्य के द्रष्टा थे जिन्होंने सत्य का दर्शन किया और उसे मानव भाषा में रख दिया, क्योंकि यह देखना मानसिक नहीं आध्यात्मिक दृष्टि थी। इसलिये उचित ही है कि वेदों को श्रुति या अंतःप्रकाश कहा जाता है। इनमें ऋग, यजु, साम और अथर्व उपजाऊ बनानेवाली वर्षा हैं जिसने सत्य के पौधे को पोषण दिया और बढ़ा किया। ब्राह्मण वह वन है जिसमें यह पौधा पाया जाता है, अरण्यक वह भूमि हैं जिनमें यह पौधा उगता है। उपनिषद् स्वयं वह पौधा है, जड़, तना, पत्ते, पुटक, पंखुड़ियां और फूल है जो अपने-आपको एक बार अभिव्यक्त करता है और हमेशा के लिये रहता है—वह है उपनिषद् की महान् उक्ति 'सोऽहम्'; यह उपनिषद् की परिपूर्ति है। सोऽहम् को नमस्कार है, उस शाश्वत को नमस्कार है जो देश, काल, कारण और सीमा से रहित है, मेरी आत्मा को नमस्कार है जो शाश्वत है।

शिष्य—मैं शाश्वत को और अपनी आत्मा को नमन करता हूँ जो शाश्वत है "स्वाहा !"

गुरु—अतः उपनिषद् यह कहकर आरंभ करता है कि यह सब ईश से वेष्टित या आच्छादित होना चाहिये। इसका मतलब यह है कि व्यष्टिगत जीवात्मा या मानव आत्मा को मुक्ति पाने के लिये इस समस्त विश्व को ईश से लपेट देना चाहिये जैसे कोई शरीर को कपड़ों से ढकता है। स्पष्ट है, यहां ईश का मतलब अज्ञेय परब्रह्म नहीं है क्योंकि अज्ञेय के बारे में हम देश, काल या भेद की भाषा में नहीं बोल सकते, बल्कि वह ब्रह्म है जिसे योग द्वारा जाना जा सकता है, जो एकमेव की प्रदीप्त छाया है, जिसे एक की शक्ति ने प्रस्तुत किया है, जिसने अपने-आपको पुरुष और प्रकृति में विभक्त करके असंख्य नाम-रूपों के इस जगत् का सृजन किया है। ब्रह्म को ईश कहा जाता है यानी हम उसे सर्वोत्तम रूप में जगत् का स्वामी और प्रभु मानते हैं। फिर भी वे आध्यात्मिक शक्ति के वह सागर हैं जो अपनी उपस्थिति मात्र से सर्जनात्मक, परिरक्षणात्मक और विनाशात्मक शक्ति या प्रकृति के रूप में शाश्वत परब्रह्म की इच्छा-शक्ति, ऊर्जा के हिलोरे लेते हुए सागर, कारण जल को गतिशील रखता है। आध्यात्मिक शक्ति के सागर और भौतिक रूप के सागर, इन दोनों में से पिछला पहले में समाया रहता

है और उसके बिना नहीं रह सकता। कहा जा सकता है कि वह पहले से घिरा हुआ या उसमें लिपटा हुआ है। स्वयं ईश सागर के ऊपर विभिन्न रूपों में उपस्थित रहते हैं, प्रज्ञा, हिरण्यगर्भा और विराट् या विष्णु, ब्रह्मा और महेश्वर। पुराणों का यही मतलब होता है जब वे कहते हैं कि विष्णु सागर में देश और काल के सर्प पर लेटे हुए हैं और ब्रह्मा उनके नाभि कमल से निकलते हैं आदि। यही ईश है, राजा और प्रभु। अतः हमें यह अनुभव करना चाहिये कि इस विश्व में सभी चीजें ब्रह्म के या आध्यात्मिक शक्ति के उस सागर से बनी हैं जो उन्हें उस तरह लपेटे रहता है जैसे चोंगा पहननेवाले को।

शिष्य—मैं समझ नहीं पाया, निश्चय ही सभी चीजें स्वयं ब्रह्म हैं, (सर्व खल्विदं ब्रह्म) तब फिर यह क्यों कहा जाये कि वह सभी चीजों को इस तरह लपेटे हुए है मानों वह उनसे भिन्न हो ?

गुरु—इस मुहावरे से मेरा मतलब यह था कि वैश्व और अभिव्यक्त चेतना, जिसे हम ब्रह्म कहते हैं, सभी सीमित व्यक्तिगत चेतनाओं को, जो अपने-आपको हमारे आगे वस्तुओं के रूप में प्रकट करती है उन्हें घेरे और अपने अंदर समाये रहते हैं।

शिष्य—फिर भी मैं नहीं समझ पाया। एक और अविभक्त चेतना विभक्त कैसे हो सकती है या अगर विभक्त हो जाये तो कैसे साथ-ही-साथ एक बनी रह सकती और अपने ही भागों से घिरी रह सकती है ? कोई चीज एक ही साथ एक और अविभाज्य और बहु तथा विभाज्य नहीं हो सकती।

गुरु—इसके विपरीत, चेतना का ठीक यही स्वभाव है कि वह शाश्वत रूप से एक और अविभक्त है और फिर भी अपनी इच्छा के अनुसार सदा विभाज्य है क्योंकि मानव चेतना बहुत बार दो अवस्थाओं में बंटी रहती है जिसमें हर एक की अपनी स्मृति और अपना इतिहास होता है। जब मनुष्य एक अवस्था में होता है तो वह यह नहीं जानता कि वह अपनी दूसरी अवस्था में क्या सोच और कर रहा था। जो लोग सत्य से अनभिज्ञ हैं वे इस परिस्थिति से यह मानते हैं कि मनुष्य की चेतना एक और एकरूप नहीं

बल्कि विभिन्न व्यक्तित्वों की पोटली होगी। सांख्य तथा कुछ और लोग यह कल्पना करते हैं कि एकमेव नहीं असंख्य आत्माएं और पुरुष हैं, वे कहते हैं कि अन्यथा सबको समान ज्ञान, समान सुख-दुःख प्राप्त होते। लेकिन यह केवल अविद्या है और जब प्रतीयमान रूप से व्यष्टिगत पुरुष अपने-आपको शाश्वत के साथ पूर्णयोग की स्थिति में रखता है तो उसे पता लगता है कि सारे समय एक ही पुरुष था जो औरों को जानता और उन्हें अपने अंदर समाये हुए था, इस अर्थ में कि वे केवल उससे प्रक्षिप्त उसकी सृष्टि थे। विभाजित चेतना की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएं एक ही व्यक्तित्व की अवस्थाएं हैं भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व नहीं। यह एकदम स्पष्ट हो जायेगा यदि कोई कुशल और सावधान सम्मोहक मनुष्य को उचित स्थिति की निद्रा में पहुंचा दे क्योंकि तब प्रायः व्यक्तित्व की एक तीसरी अवस्था विकसित होगी जो सारे समय यह जानती रही है कि बाकी दो स्थितियां क्या कह और कर रही थीं। यह अपने-आपमें काफी प्रमाण है कि चेतना का ऐक्य सारे समय मौजूद था, वह डूबा हुआ भले रहा हो पर सतत और अंतस्तलीय स्थिति में सक्रिय था। इस एक चेतना का दो पृथक् अवस्थाओं में विभाजन अविद्या की एक विशिष्ट और असामान्य क्रिया से होता है। वही वैश्व निर्ज्ञान, जो अपनी व्यापक और सामान्य क्रिया में मनुष्यों से यह कल्पना करवाता है कि वे वैश्व चेतना से अलग आत्मा हैं, उस चेतना से सृष्ट अवस्थाएं या स्थितियां नहीं। तो हम यहां एक और अविभाज्य के विभक्त और अनेकगुना होने और साथ ही एक और अविभाज्य बने रहने के उदाहरण को प्रतिष्ठित होते देखते हैं। स्वयं एक और अविभाज्य चेतना, जाग्रत् मनुष्य का 'अहं', एक अधिक विस्तृत चेतना का एक भाग या यूं कहें कि एक अवस्था है। वह स्थूल जड़ता से अधिक स्वतंत्र है और स्वप्नावस्था में कुछ क्रीड़ा कर सकती है; स्वप्न-सम्मोहन उसकी एक विशिष्ट और मनमौजी अवस्था है जो अधिक स्थायी और सुसंगत रूप से अंततः मृत्यु के समय या उसके बाद स्थूल शरीर से मुक्त हो जाती है। यह विशालतर चेतना स्वप्नावस्था कहलाती है और वह शरीर या उपाधि, जिसमें वह काम करती है, सूक्ष्म शरीर कहलाता है। कहा जा सकता है कि जैसे चोगा पहननेवाले को लपेटे रहता है उसी

तरह स्वप्न-चेतना जाग्रत् चेतना और उसके शरीर को लपेटे रहती है क्योंकि वह अपने स्वभाव और क्षेत्र में अधिक विस्तृत और कम फंसी हुई है। यह एक चयन करनेवाला माध्यम है जिसमें से और जिसके द्वारा भौतिक जीवन में एक अधिक विस्तृत चेतना द्वारा जाग्रत् प्रयोजनों के लिये एक भाग चुना जाता है जिसे हम सुषुप्ति अवस्था या कारण शरीर कहते हैं और इसमें से और इसके द्वारा जीवन से पहले और मृत्यु के बाद के लिये चुनाव किया जाता है। यह सुषुप्ति अवस्था ब्रह्म से घिरी रहती है जिसमें से और जिसके द्वारा उसे कारण के प्रयोजनों के लिये चुना जाता है—उसी तरह जैसे चोगा पहननेवाले को लपेटे रहता है।

इस तरह तुम अनुभव करोगे कि ब्रह्म बृहत्, शाश्वत रूप से एक और अविभाज्य चेतना है जो इसके बावजूद अपनी इच्छा के अनुसार अपने-आपको सीमित करता है और फिर भी असीम रहता है और चोगे की तरह सभी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं या काल्पनिक सीमाओं को घेरे रहता है।

शिष्य—जी हां, सच है, परंतु चोगा, पहननेवाले से अलग होता है।

गुरु—चलो हम गरी सहित काष्ठफल की बात सोचें। हम देखते हैं कि आकाश रूपी गरी को काष्ठफल रूपी आकाश घेरे रहता है, जैसे चोगा पहननेवाले को घेरे रहता है। लेकिन दोनों हैं एक ही, आकाश एक ही है, दो नहीं।

शिष्य—अब समझ में आया।

गुरु—अब उसकी बात सोचें जिसे उपनिषद् ज्यादा स्पष्ट रूप से वह चीज बतलाता है जिसे आच्छादित या आवेष्टित करना है—जो कुछ जगत् या जगती है या जो कुछ उसमें गति करनेवाली चीज है वह गति करती है। जगती, जो गति करती है, पृथ्वी का पुराना नाम है, जो बाद में सारे विश्व के लिये चल पड़ा, जिसका पृथ्वी एक प्रारूप है। वर्तमान काल में हम मनुष्यों का केवल इसीके साथ संबंध है। तब फिर इस विश्व को जगती यानी गति करनेवाला क्यों कहा जाता है? क्योंकि वह प्रकृति का एक रूप है जिसकी अनिवार्य विशेषता है गति; क्योंकि वह गति द्वारा इस भौतिक जगत् को उत्पन्न करती है। वस्तुतः सभी विषय-वस्तुएं बस एक रूप हैं या यूँ कहें

गति का दृश्य, श्रव्य या अनुभवगम्य परिणाम हैं। हर भौतिक पदार्थ जगत् है जो अनंत गति से भरा है—यहांतक कि पत्थर और ठीकरे भी। हमारी इन्द्रियां कहती हैं कि यह जड़ जगत् ही एकमात्र विद्यमान यथार्थता है लेकिन उपनिषद् हमें इन्द्रियों की मिथ्या साक्षी के बारे में सावधान करता है और हमें आदेश देता है कि हम अपने हृदय और मन में आध्यात्मिक शक्ति के सागर, ब्रह्म को अनुभव करें, उन्हें अपनी कल्पना में उस तरह खींचें जैसे हर संवेदनशील वस्तु के चारों ओर चोगा लपेटा जाता है।

शिष्य—लेकिन उपनिषद् ने यह तो नहीं कहा कि जड़ जगत् अपने-आपमें ब्रह्म है।

गुरु—वह अभी कहेगा। इसके बाद वह हमसे कहता है कि इस सब को त्यागकर (जो कुछ जगत् में है) भोग करो और अन्यो की संपदा की ओर लोलुप न होओ। हमें सारे जगत् को भोगना तो है पर औरों की संपदा पर लोभ-भरी दृष्टि नहीं डालनी है। यह कैसे संभव हो सकता है? मुझ देवदत्त से कहा जाता है कि संसार में जो कुछ है उसका भोग करो लेकिन मैं देखता हूं कि मेरे पास भोगने लायक बहुत ही कम है जब कि मेरे पड़ोसी हरिश्चन्द्र के पास बेतहाशा धन-दौलत है, तब मैं भला उसकी समृद्धि से ईर्ष्या करने से कैसे बच सकता हूं और अगर सुरक्षा के साथ हो सके तो उसे अपने भोगने के लिये पाने की कोशिश क्यों न करूं। मैं कोशिश न करूंगा क्योंकि मैं नहीं कर सकता, क्योंकि मैंने अनुभव कर लिया है कि इस जगत् में ब्रह्म के सिवा कुछ नहीं है और वह अपनी शक्ति से विश्व को प्रकट कर रहा है। न तो कोई देवदत्त है न हरिश्चन्द्र, चेतना की विभिन्न स्थितियों में ब्रह्म ही है जिसे ये नाम दिये गये हैं; इसलिये अगर हरिश्चन्द्र अपनी धन-संपदा को भोग रहा है तो मैं ही उनका भोग कर रहा हूं क्योंकि हरिश्चन्द्र मैं ही तो हूं—मेरा शरीर नहीं जिसमें मैं बंदी हूं, मेरी कामनाएं भी नहीं जो मेरे शरीर को दुखी बनाती हैं बल्कि मेरी सच्ची आत्मा, मेरे अंदर का पुरुष है जो जगत् के सभी मधुर, कटु, कोमल, महान्, सुंदर, भयंकर, सुखकर, भयावह, पूर्णतया अद्भुत और भोग्य नाटक का साक्षी और भोक्ता है, जिसे प्रकृति उसके सुख के लिये अभिनीत कर रही है।

जैसे सांख्य या अन्य दर्शन और ईसाइयत तथा अन्य धर्म घोषित करते हैं, एक नहीं अनगिनत पुरुष हैं तो इस ईसाई आदेश के लिये कोई आधार न रहेगा कि औरों के साथ भी अपने जैसा प्रेम करो या श्रुति और स्मृति के पूर्ण साधु पुरुष की इस व्याख्या का कोई आधार न होगा कि वह सब प्राणियों के सुख में आनंद लेता है और उसीमें व्यस्त रहता है 'सर्वभूतहिते रतः'; क्योंकि तब हरिश्चन्द्र का मेरे साथ किसी प्रकार का कोई संबंध न होगा और जड़ भौतिक को छोड़कर हमारे बीच कोई संपर्क-बिंदु न होगा और इसमें से तो प्रेम और सहानुभूति की जगह घृणा और ईर्ष्या उभरने के लिये ज्यादा तैयार होते हैं। तब फिर मैं उसे अपने से ज्यादा कैसे पसंद कर सकता हूँ लेकिन वेदांत की दृष्टि से यह पसंद स्वाभाविक, उचित और अंत में अनिवार्य है। यह अनिवार्य है क्योंकि मैं पशु से मनुष्यतक उठा हूँ इसलिये मुझे मनुष्य से देवतक उठना चाहिये। यह पसंद बारहमासी कुंआ या झरना है; विकास का अर्थ है ब्रह्म का, वैश्व आत्मा का अधिकाधिक विस्तृत अंतःप्रकाश, जड़तत्त्व के मिथ्यात्व से आत्मा के सत्य की ओर प्रगति और यह प्रगति चाहे जितनी धीमी क्यों न हो, है अनिवार्य। अपने अंदर औरों की वरीयता कैसे अनिवार्य, स्वाभाविक और उचित हो सकती है? यह स्वाभाविक है क्योंकि मैं सचमुच दूसरे को अपनी अपेक्षा अधिक पसंद नहीं कर रहा बल्कि अपनी सच्ची आत्मा को मिथ्या पर वरीयता दे रहा हूँ। अपने अकेले शरीर और मन में रहनेवाले भगवान् पर, सबमें रहनेवाले भगवान् को, केवल मेरे, देवदत्त के अंदर रहनेवाले भगवान् की अपेक्षा देवदत्त और हरिश्चन्द्र में रहनेवाले भगवान् को वरीयता देता हूँ। यह उचित और अनिवार्य है क्योंकि मेरे लिये यह ज्यादा अच्छा है कि केवल अपना सुख भोगने की जगह हरिश्चन्द्र का सुख भोगूँ, क्योंकि इस तरह मैं ब्रह्म के अपने ज्ञान को केवल बौद्धिक धारणा या स्वीकृति बनाये रखने की जगह एक अनुभव में बदल सकूँगा—और स्मृतियाँ कहती हैं कि अनुभव ज्ञान का सारतत्त्व है। इसी कारण पूर्ण प्रेम, इससे मेरा मतलब नारी के प्रति नर का केवल ऐंद्रिय आवेश नहीं है, एक महान् और उदात्त बनानेवाली चीज है क्योंकि इसके द्वारा वैश्व चेतना की दो पृथक् स्थितियाँ एक बन जाती हैं। और भी अधिक उदात्त और उदात्त बनानेवाला है उस देश-प्रेमी का प्रेम जो अपने

देश के लिये जीता और मरता है क्योंकि इस तरह वह करोड़ों दिव्य-इकाइयों के साथ एक हो जाता है। और भी अधिक महान्, उदात्त और उन्नत है मानव-प्रेमी परोपकारी की आत्मा जो परिवार या देश को भूले बिना मानवजाति या प्राणी मात्र के लिये जीता और मरता है। सबसे अधिक बुद्धिमान् मुनि, सबसे बड़ा योगी वह है जो ब्रह्मतत्त्व केवल ज्ञान द्वारा नहीं पहुंचता, भक्ति के पंखों पर उड़कर भगवान्तक नहीं जा पहुंचता बल्कि भगवान् को अर्पित कर्म द्वारा स्वयं वही (भगवान्) बन जाता है, जो अपने-आपको पूरी तरह से अपने परिवार और मित्रों के लिये, अपने देश और मानवजाति के लिये, समस्त जगत्, हां और जब वह कर सके तो सारे सौर-मंडल तथा मंडलों पर मंडल, सारे विश्व के लिये अपने-आपको दे सकता है।

इसीलिये उपनिषद् हमसे त्याग द्वारा भोग करने के लिये कहते हैं। यह कहने का एक विचित्र ढंग है 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'। किसी आदमी से यह कहना एक विलक्षण बात है कि वह त्याग दे और जिस चीज को उसने त्यागा है उसीका अपने उत्सर्ग द्वारा भोग करे। साधारण मनुष्य इसको एक संकटापन्न विरोधाभास मानकर इससे घबराता है; लेकिन उपनिषद् का द्रष्टा हमसे अधिक बुद्धिमान् है और उसका वक्तव्य शब्दशः सच्चा है। सोचो, इसका क्या मतलब है। इसका अर्थ यह है कि हम अपने छोटे-मोटे निजी आनंद और सुख को त्याग दें ताकि हम आंखोंतक औरों के आनंद में स्नान कर सकें और एक आदमी का सुख चाहे जितना अधिक क्यों न हो, सैंकड़ों का संयुक्त सुख निश्चय ही कहीं अधिक होना चाहिये। त्याग द्वारा तुम अपने सुख को सैंकड़ों गुना अधिक कर सकते हो। अगर तुम सच्चे देश-प्रेमी हो तो तुम एक आदमी के नहीं बल्कि तीस करोड़ों के सुखों का अनुभव करोगे, अगर तुम सच्चे लोक-हितैषी हो तो पृथ्वी के अनगिनत करोड़ों लोगों के सुख अमृत-सागर की तरह तुम्हारी आत्मा में से बहेंगे, लेकिन तुम कहते हो, 'तो क्या दुःख भी प्रवाहित होगा?' वह भी मधुरता की घोर पीड़ा है जो आत्मा को स्वर्गतक उठाती है जिसे तुम सुख, निर्भर रहने के अद्वितीय सुख में बदल सकते हो, जिस देश के लिये तुम अपनी बलि देते हो या

'उन दिनों भारत की आबादी इसीके आस-पास थी।

मानवजाति के लिये, जिसमें तुम भगवान् को पाना चाहते हो, उसके दुःखों को आनंद में बदल देते हो; इसके लिये केवल लगातार दृढ़ता के साथ, धैर्यपूर्वक प्रयास करना अपने-आपमें अकथनीय हर्ष है। ऐसे उद्देश्य के लिये पराजय भी एक कठोर सुख है जो अंतरात्मा को नये और निरंतर प्रयास के लिये तैयार करती है आर बलिदान के लिये उपयुक्त आत्माएं, जय हो या पराजय दोनों से समान बल प्राप्त करती हैं। याद रखो, शाश्वत अपने-आपको पूरी तरह बलहीन आत्माओं को नहीं देते। बलवान्, शूरवीर आत्मा ही भगवान्तक पहुंचती हैं। दूसरे लोग दूर से ही उनकी छाया का स्पर्श कर पाते हैं। इस भांति जो व्यक्ति औरों के भले के लिये उस थोड़े-बहुत को त्याग सकता है, जिसे वह अपना कहता है, वह बदले में इस गतिशील विश्व में जो कुछ जगत् है उस सबको भोग सकता है।

अगर तुम इतने ऊंचे नहीं उठ सकते तब भी उपनिषद् के शब्द तुम्हारे लिये और तरीकों से सच्चे हैं। तुमसे यह नहीं कहा जाता है कि तुम जरूर ही भौतिक रूप से अपने भोग की वस्तुओं को त्याग दो। इतना काफी होगा कि तुम उन्हें अपने हृदय से छोड़ दो। तुम उनका इस भाव से भोग करो कि न तो उन्हें पाकर खुशी से फूल उठो न उन्हें खोकर दुःखी हो। वह सुख स्पष्ट, गहरा और शांत होगा, भाग्य उसे भंग नहीं कर सकता, डाकू उसे चुरा नहीं सकते, शत्रु उसे अभिभूत नहीं कर सकते। अन्यथा तुम्हारा सुख-भोग भय, दुःख, कष्ट और आवेश के उतार-चढ़ाववाला और टूटा हुआ होगा—उसकी वृद्धि के लिये आवेश, उसे बनाये रखने के लिये कष्ट, कम होने का दुःख, उसके खो जाने का भय होगा। त्याग द्वारा सुख भोगना कहीं अधिक अच्छा है। अगर तुम भौतिक रूप से त्यागना चाहो तो वह भी अच्छा है बशर्ते कि तुम यह सावधानी बरतो कि तुम मन में उस भोग के विचारों को पोसते न रहो। यह बहुधा सुख-भोग की ओर जाने का द्रुततम तरीका होगा। स्वभावतः धन-दौलत, ख्याति और सफलता उस आदमी से भागती हैं जो उनके पीछे दौड़ता है। वह उन्हें पाये बिना अपना हृदय तोड़ लेता है या मर जाता है। और अगर वह उन्हें पा भी ले तो कठिनाइयों के एक नरक, परिश्रम के एक पहाड़ के बाद पाता है। लेकिन जब कोई धन-दौलत और

महिमा की ओर पीठ कर देता है तो, यदि उसके पिछले कर्म इंकार न करें, ये चीजें भीड़ लगाकर उसके चरणों पर आ गिरती हैं और अगर वे आ जाएं तो वह उनका रस लेगा या उन्हें छोड़ देगा ? वह उन्हें त्याग सकता है—वह एक महान् पथ है और अनगिनत संतों ने यही रास्ता अपनाया है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि तुम उन्हें त्याग ही दो। तुम उन्हें लेकर उनका उपभोग कर सकते हो। लेकिन तब तुम उनका उपभोग कैसे करोगे ? अपने निजी सुख के लिये नहीं, अपने मिथ्या व्यक्तित्व के लिये नहीं क्योंकि तुम पहले ही उस प्रकार के भोग को अपने हृदय से निकाल चुके थे। हां, तुम उनके अंदर भगवान् का और भगवान् में उनका सुख भोग सकते हो। जैसे राजा नजराने को छू भर देता है और फिर वह सरकारी खजाने में चला जाता है उसी तरह तुम भी, जो संपदा तुम्हारे पास आये उसे छूकर अपने चारों ओर के लोगों को, अपने देश को, सारी मानवजाति को दे सकते हो और उन सभी में ब्रह्म को देख सकते हो। वह अपनी महिमा को नम्रता के साथ छिपा सकता है लेकिन उससे मिलनेवाले प्रभाव का उपयोग वह मनुष्य को ऊपर भगवान् की ओर चढ़ाने में कर सकता है। ऐसा मनुष्य तेजी से सुख-दुःख के, जय-पराजय के ऊपर चढ़ जायेगा क्योंकि वह दुःख में हो या सुख में, अपने-आपको भगवान् के नजदीक, भगवान् के साथ अनुभव करेगा, भगवान् के जैसा और फिर अंत में स्वयं भगवान् अनुभव करेगा। इसीलिये उपनिषद् कहता है :

“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः”।

इस जगत् में अपने कर्म करता जा और सौ वर्ष जीने की इच्छा कर।

वेदों के अनुसार मनुष्य के स्वाभाविक जीवन की अवधि है सौ वर्ष। अतः श्रुति हमसे कहती है कि हमें जीवन से मुंह न मोड़ना चाहिये, हमें असमय में उसे उठा न फेंकना चाहिये, या हमें अपने शरीर से जल्दी छुटकारा पाने की इच्छा भी न करनी चाहिये बल्कि खुशी से अपनी अवधि पूरी करनी चाहिये, मनुष्य को सामान्य जीवन के पूरे विस्तार को पूरा करने के

लिये पूरी तरह तैयार रहना चाहिये ताकि हम इस जगत् में अपने कर्म पूरे करते चलें। 'कुर्वन्' शब्द पर 'एक' जोड़कर जो खास जोर दिया गया है उसकी ओर ध्यान दो। वस्तुतः हमें इस जगत् में अपने कर्म करते जाना चाहिये, उन्हें करने से बचना न चाहिये। आत्मा को पाने के लिये पहाड़ों की ओर दौड़ लगाने की जरूरत नहीं है क्योंकि आत्मा यहीं है, तुम्हारे अंदर भी और तुम्हारे चारों ओर भी और अगर तुम यहां से भाग चलो, आत्मा को पाने के लिये नहीं बल्कि संसार के दुःख-दैन्य से बच निकलने के लिये, जिसका सामना करने के लिये तुम बहुत दुर्बल हो, तब तुम इस जन्म के लिये ही नहीं, शायद आनेवाले अनेक जन्मों के लिये आत्मा को खो बैठते हो। मैं तुम्हारे आगे दोहराता हूं कि दुर्बल और भीरु भगवान्तक आरोहण नहीं कर पाते, केवल प्रबल और वीर ही जा सकते हैं। ब्राह्मण बनने से पहले हर व्यक्तिगत जीवात्मा को पूर्ण क्षत्रिय बनना चाहिये।

शिष्य—यह सब उसके विपरीत है जो हमें हमारे उन मेधावी पुरुषों ने सिखाया है जिनका हम बड़ी प्रसन्नता के साथ आदर करते हैं। आज भी वे यही सिखाते और इसीके अनुसार व्यवहार करते हैं।

गुरु—क्या तुम्हें विश्वास है कि बात ऐसी है? वे क्या सिखाते हैं?

शिष्य—यह कि जगत् से जुगुप्सा या वैराग्य ही सबसे अच्छा मार्ग है और मानव आत्मा में उसका प्रवेश ही मुक्ति के लिये पहला आह्वान है और मुक्ति कर्म से नहीं ज्ञान से मिलती है।

गुरु—वैराग्य एक बड़ा शब्द है और इसके बहुत सारे अर्थ हो गये हैं। और चूंकि आर्यावर्त के लोगों ने अर्थों को आपस में गड़ु-मड़ु और अस्त-व्यस्त कर दिया है इसीलिये इस पवित्र और प्राचीन देश में तमस् और अनार्य भीरुता, दुर्बलता और स्वार्थ सब ओर फैल गये हैं और देश को अंधकार के एक मोटे आवरण से ढके हुए हैं। एक वैराग्य है बलवान् पुरुष का जो सबसे सच्चा और सबसे उदात्त होता है। वह इस संसार की समस्त मधुरता चखने के बाद यह जान पाता है कि उसमें स्थायी और टिकाऊ मधुरता नहीं है। वह सच्चा और अमर हर्ष नहीं है जिसकी मांग उसकी सच्ची और अमर आत्मा करती है और जिसके लिये वह अपने अंदर

अधिक गहरी, अधिक पवित्र और अक्षय चीज की ओर मुड़ती है। फिर दुर्बल व्यक्ति का वैराग्य है जो जगत् की मधुरता के लिये लालायित, हांपता-कांपता और प्यासा रहा है लेकिन जिसे भाग्य ने या उससे अधिक मजबूत लोगों ने धकिया दिया और चलता कर दिया है। वह योग और वेदांत का उपयोग उस तरह करेगा, जैसे पियक्कड़ शराब की बोतल का और अफीमची अपनी गोली या अफीम की प्याली का करता है। जिन ऋषियों ने इन बातों को जगत् के आगे प्रकट किया था उन्होंने इन महान् वस्तुओं को इन हेय उपयोगों के लिये नहीं दिया था। अगर ऐसा आदमी मेरे पास दीक्षा के लिये आये तो मैं उसे श्रीकृष्ण द्वारा पार्थ को दी गयी इस लताड़ के साथ वापिस भेज दूंगा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

कलैव्यं मास्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते ।

सचमुच यह दुर्बलता उस व्यक्ति के अयोग्य है जो शाश्वत ब्रह्म, जगत्तों के स्रष्टा और संहार-कर्ता से भिन्न नहीं है। लेकिन इससे यह न समझा जाये कि मैं दुःख और निराशा से आनेवाले सच्चे वैराग्य की निंदा करता हूँ क्योंकि कभी-कभी मनुष्य अपने अज्ञान में हेय वस्तुओं के लिये प्रयास करके हार जाते हैं तो यह दुर्बलता के कारण नहीं बल्कि इसलिये होता है कि वे चीजें उनकी सच्ची महानता और उच्च नियति के नीचे होती हैं। तब उनकी आंखें खुल जाती हैं और वे ध्यान, एकांत और समाधि की खोज करते हैं, अपने दुःखों और अतृप्त लालसाओं को डुबाने के लिये एक प्याले की तरह नहीं बल्कि अपनी दिव्य शक्ति को चरितार्थ करने और दिव्य प्रयोजन के लिये उसका उपयोग करने के लिये। कभी-कभी महान् आत्माएं संन्यास मार्ग खोजती हैं क्योंकि वे भगवान् और गुरु के साथ एकांत में ही सबसे अच्छी तरह ब्रह्मतेज विकसित कर सकती हैं और एक बार वे उसे पा लें तो वे उसे जगत् पर धाराप्रवाह के रूप में उंडेलती हैं। शंकराचार्य ऐसे ही थे और कभी औरों का दुःख या सारे जगत् का दैन्य उन्हें सुख और आनंद में पाता है और उन्हें वहां से हटा देता है जैसे बुद्ध को निकाल दिया

गया—ताकि वे कष्ट पानेवालों के लिये स्वयं अपनी सत्ता की गहराई में सहायता खोज सकें। मनुष्यों में संन्यासी सबसे महान् होते हैं क्योंकि कर्म के लिये सबसे अधिक बलवान् होते हैं, भगवान् के अंदर, भगवान् का कार्य करने के लिये सबसे अधिक महान्।

शिष्य—मैं फिर से कहता हूँ कि यह महान् अद्वैतवादी शंकराचार्य तथा अन्यो की शिक्षा के विपरीत है।

गुरु—यह श्रीकृष्ण की शिक्षा के विपरीत नहीं है जो सब गुरुओं से महान् और सर्वोत्तम जगत् गुरु हैं। वे महाभारत में संजय से कहते हैं कि कर्म द्वारा मुक्ति के मत और अकर्म द्वारा मुक्ति के मत के बीच कर्म द्वारा मुक्ति का मत ही सच्चा मत है और वे दूसरे की ऐसा कहकर निंदा करते हैं और कहते हैं कि वह दुर्बलों की बकवास है। वे भगवद्गीता में बार-बार कर्म की श्रेष्ठता पर जोर देते हैं।

शिष्य—यह सच है परंतु वे यह भी कहते हैं कि ज्ञान अन्य सभी चीजों से श्रेष्ठ है और उसके समान और कुछ भी नहीं है।

गुरु—और सचमुच है भी नहीं क्योंकि ज्ञान अनिवार्य है, ज्ञान प्रथम और सबसे महान् है। ज्ञान के बिना कर्म मनुष्य का उद्धार न करेगा बल्कि उसे अधिकाधिक गहरी दासता में डुबाता जायेगा। उपनिषद् जिन कर्मों की बात कहते हैं वे तो तब किये जाते हैं जब तुम सारे विश्व को भगवान् में प्रतिष्ठित कर दो यानी जब तुम यह अनुभव कर लो कि सब कुछ एक ब्रह्म ही है और तुम्हारे कर्म पुरुष के आनंद के लिये प्रकृति द्वारा फैलाये गये नाटकीय भ्रम हैं। तब तुम अपने कर्म 'तेन त्यक्तेन' या जैसे करने के लिये श्रीकृष्ण तुमसे कहते हैं, अपने कर्मों के फल की स्पृहा को त्यागकर और अपने सारे कर्म उन्हीं को अर्पित करके करोगे—अपनी उस निम्नतर अनात्मा को नहीं जो सुख-दुःख का अनुभव करती है बल्कि अपने अंदर स्थित उस ब्रह्म को अर्पण करके, जो केवल लोक-संग्रह के लिये, 'लोकसंग्रहार्थम्', कर्म करते हैं, ताकि अप्रशिक्षित जन-साधारण को तुम्हारी अकर्मण्यता द्वारा चकराने और भटक जाने की अपेक्षा जगत् को तुम्हारे कर्मों के दैवी स्वभाव से सहायता, बल और सामर्थ्य मिले।

उपनिषद् आगे कहता है, 'इस तरह, इसके सिवा तुम्हारे लिये कोई और मार्ग नहीं है, कर्म मनुष्य से चिपकता नहीं है।' इसका अर्थ यह है कि निष्काम कर्म, त्याग के बाद और भगवान् को अर्पित कर्म—ये और और केवल यही—मनुष्य से चिपकते नहीं हैं, अपनी अदृश्य शृंखला में बांधते नहीं हैं बल्कि उससे इस तरह झड़ जाते हैं जैसे हंस के पंखों से जल की बूँदें। वे उसे इसलिये नहीं बांधते क्योंकि वह कार्य-कारण-भाव के फंदे से मुक्त होता है। कार्य-कारण-भाव द्वैत के भाव से, सुख-दुःख, प्रेम और घृणा, शीत और उष्ण के भाव से उठते हैं जो अविद्या से उठते हैं और वह जिसने कामना को त्याग दिया, ऐक्य को पा लिया वह अविद्या और द्वैत के ऊपर हो गया। उसके लिये बंधन का कोई अर्थ नहीं रहता। (वस्तुतः वह कर्म नहीं करता बल्कि प्रकृति उसके अंदर पुरुष के सान्निध्य से प्रेरित होकर कर्म करती है)

शिष्य—तब फिर शंकर यह क्यों कहते हैं कि पूर्ण ऐक्य प्राप्त करने के लिये कर्म का त्याग जरूरी है? उनके मतानुसार जो कर्म करते हैं वे पूर्ण ऐक्य नहीं केवल सालोक्य अथवा ब्रह्म के साथ सापेक्ष ऐक्य पाते हैं।

गुरु—शंकर ने जो कहा उसका कारण था और उनके युग में जरूरी था कि कर्म की अपेक्षा ज्ञान को ज्यादा ऊंचा उठाया जाये क्योंकि उन्हें जिस महान् जीवन-शक्ति से संघर्ष करना था वह पीछे के काल का बौद्ध अपधर्म न था जिसमें बौद्ध धर्म जीर्यमाण और क्षयग्रस्त हो गया था बल्कि वह कर्मकांड के उन विजयी सिद्धांतों के साथ संघर्ष था जिन्होंने वैदिक अनुष्ठानों और समारोहों को एकमात्र पथ और स्वर्ग को एकमात्र लक्ष्य माना। यह बतलाने की सतत चिंता में कि कर्म—समारोह और अनुष्ठान जिसके भाग थे—ही स्वर्ग के लिये एकमात्र मार्ग नहीं हैं, उन्होंने धनुष को उतनी अधिक दूरीतक खींचा जितना वे खींच सकते थे और यह तर्क किया कि कर्म ही अंतिम और परम मुक्ति के मार्ग कदापि न थे। यहां हम यह देखते चलें कि शंकर और अन्य ज्ञान-मार्गियों के मुख से कर्म-मार्ग की निंदा का अर्थ क्या है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि वैदिक अनुष्ठानों और रीति-

रिवाजों के अर्थ में कर्म मुक्ति का मार्ग नहीं है। यदि उसका यही अर्थ है तो शंकर ने अपना कार्य पूरे प्रभावकारी रूप से कर लिया है क्योंकि अब कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति इससे उल्टे सिद्धांत को सिद्ध करने की कोशिश न करेगा। हम सब इस बात पर सहमत हैं कि कर्मकांड का एकमात्र चरम परिणाम मुक्ति नहीं है, मुक्ति से बहुत नीचे है और अपने कारण के समाप्त होने के साथ-ही-साथ वह भी समाप्त हो जाता है। हम सब इस बात पर भी सहमत हैं कि वैदिक कर्मकांड की एकमात्र आध्यात्मिक उपयोगिता है मन को शुद्ध करना और उसे मुक्ति के सच्चे रास्ते पर चलने के लिये उपयुक्त बनाना और वह मार्ग ज्ञान द्वारा पाया जाता है। लेकिन अगर तुम कहो कि "कर्तव्य-कर्म" के अर्थ में कार्य मुक्ति का मार्ग नहीं है तो मैं आपत्ति करूंगा क्योंकि मैं कहूंगा कि कर्म ज्ञान से भिन्न नहीं है बल्कि ज्ञान ही है, ज्ञान की आवश्यक परिपूर्ति और निष्पत्ति है; कि भक्ति, कर्म और ज्ञान तीन नहीं, एक ही हैं और अविच्छेद्य रूप से एक साथ जाते हैं। इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि सांख्य (ज्ञान योग) और योग (भक्ति और कर्म योग) दो नहीं एक ही हैं और केवल अविकसित बाल मन ही इनमें फर्क करते हैं।

शिष्य—लेकिन शंकराचार्य को अविकसित मन कैसे कहा जा सकता है ?

गुरु—वे स्वयं अविकसित मन नहीं थे, उन्हें अविकसित मनों से व्यवहार करना पड़ता था और इसी कारण उन्हें उनके जैसी भाषा बोलनी पड़ती थी। अगर वे कर्म को अपनी स्वीकृति दे देते, फिर चाहे वह कितनी ही शर्तों के साथ क्यों न होती, तो जन-साधारण उसे न समझ पाता और वह अपने पुराने रीति-रिवाजों से ही चिपका रहता। भाषा की इस कठिनाई के कारण, उसकी स्वाभाविक अपूर्णता और जो मन भाषा का उपयोग करते हैं उनकी अपूर्णता के कारण ही धर्म और दर्शन की सारी गड़बड़ और अलगाव की भावना पैदा होती है, क्योंकि धर्म और दर्शन एक हैं और भेदभाव से ऊपर हैं। शंकर कर्म के इतने विरोधी भी न थे जैसे कहीं-कहीं पर अपने तर्क की उग्रता के कारण जान पड़ते हैं। जब तुम कहते हो कि

कर्म मुक्ति का मार्ग नहीं है तो तुम्हारा क्या मतलब होता है ? क्या यह कि कामना से प्रेरित कर्म मुक्ति के साथ मेल नहीं खाता, क्योंकि वह अनिवार्य रूप से बंधन की ओर ले जाता है और इस कारण त्याज्य है ? इस अर्थ में कोई विवाद नहीं। हम सब इस बात पर सहमत हैं कि कामना द्वारा प्रेरित कर्म कामना की पूर्ति के सिवाय और कुछ नहीं करते और उसके बाद आते हैं अगले जन्म में कुछ और नये कर्म। क्या तुम्हारा मतलब यह है कि निष्काम कर्म मुक्ति के साथ असंगत है और नये बंधन लाकर मुक्ति को रोकता है और इस कारण उसका त्याग करना चाहिये ? लेकिन यह बात बुद्धिसंगत नहीं है, क्योंकि बंधन कामना और अज्ञान का परिणाम है और कामना और अज्ञान के गायब होने पर उनके साथ-ही-साथ गायब हो जाता है। अतः 'निष्काम कर्म' में बंधन नहीं हो सकता। यह श्रुति के साथ असंगत है—*त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू* इत्यादि। यह तथ्यों के साथ असंगत है क्योंकि श्रीकृष्ण ने कर्म किये, जनक तथा अन्यो ने भी कर्म किये लेकिन यह बात कोई न कहेगा कि वे अपने कर्मों के कारण बंधन में जा गिरे, क्योंकि वे 'जीवन-मुक्त' थे। क्या यह कहा जा सकता है कि 'निष्काम कर्म' ज्ञान द्वारा 'ब्रह्म-प्राप्ति' की ओर एक चरण के रूप में किया जा सकता है परंतु जैसे ही ज्ञान प्राप्त हो जाये उसे छोड़ देना चाहिये ? लेकिन यह बात भी ठीक नहीं बैठती क्योंकि जनक आदि ने ज्ञान-प्राप्ति से पहले भी और उसके बाद भी कर्म किये। इसलिये शंकराचार्य का यह तर्क नहीं ठहर सकता कि ब्रह्म-प्राप्ति के साथ-ही-साथ विशुद्ध आवश्यकता के रूप में कर्म एकदम रुक जाने चाहियें, क्योंकि ब्रह्म अकर्ता है; क्योंकि जनक ने ब्रह्म-प्राप्ति की थी और श्रीकृष्ण स्वयं ब्रह्म थे और फिर भी दोनों ने कर्म किये। एक स्थान पर श्रीकृष्ण ने अपने कार्य करने के बारे में कहा है क्योंकि वस्तुतः ब्रह्म पुरुष के रूप में अकर्ता और प्रकृति के रूप में कर्ता दोनों ही हैं और अगर यह कहा जाये कि परब्रह्म या तुरीय आत्मा, जिसमें सब भेद लुप्त हो जाते हैं, अकर्ता है, तो मेरा उत्तर होगा कि वह न तो कर्ता है न अकर्ता, वह नेति नेति है, अज्ञेय और जीवात्मा शरीर में रहती हुई अंततः 'उसके' अंदर लीन नहीं होती यद्यपि योग द्वारा वह किसी भी

समय ऐसा कर सकती है। लय आदेहनिपातात् यानी शरीर छोड़ने के बाद लय ऐसी मुक्तात्मा द्वारा हो सकता है जो एक और शरीर में आने के लिये इच्छुक न हो। जीवन-मुक्त परब्रह्म की आलोकमय छाया के साथ—जिसे हम सच्चिदानंद कहते हैं—एक हो जाता है। अगर यह कहा जाये कि यह मुक्ति नहीं है तो मैं कहूंगा कि सच्चिदानंद बनने से बढ़कर कोई और मुक्ति नहीं हो सकती और जब जीवात्मा जीवात्मा न रहकर सच्चिदानंद बन जाये तो उसके लिये परब्रह्म में लय स्वेच्छाधीन हो जाता है, क्योंकि परब्रह्म जब चाहे अपनी इच्छा से सच्चिदानंद को अपने अंदर खींच सकता है और सच्चिदानंद जब चाहे हमेशा अपनी इच्छा से परब्रह्म में खिंच सकता है, क्योंकि ये दोनों किसी अर्थ में दो नहीं होते, एक ही हैं और वे किसी अर्थ में अविद्या के आधीन नहीं होते बल्कि अविद्या के परे रहते हैं। तो अगर यह कहा जाये कि निष्काम कर्म मुक्तितक नहीं केवल ब्रह्मलोकतक ही ले जाता है तब भी मेरा उत्तर होगा कि उस अवस्था में हमें मानना होगा कि अपना शरीर छोड़ने के बाद श्रीकृष्ण परम पुरुष से अलग रहे इसलिये वे भगवान् बिल्कुल न थे, वे केवल एक महान् दार्शनिक और भक्त रहे होंगे, इतने बुद्धिमान या ज्ञानी न होंगे जो मुक्ति पा लेते और जनक तथा अन्य जीवन-मुक्तों को यूँ ही झूठ-मूठ मुक्त कहा जाता है और उनकी केवल सापेक्ष मुक्ति थी। लेकिन यह शास्त्रों के प्रतिकूल होगा और श्रुति, स्मृति की शिक्षा के विरुद्ध होगा अतः उसे कोई हिंदू स्वीकार न करेगा और वेदांती तो और भी नहीं क्योंकि अगर श्रुति प्रामाणिक नहीं है तो वेदांत में भी कोई सत्य न होगा और चार्वाक के सिद्धांत में भी उतना ही बल है जितना किसी और में। और फिर यह तो तर्क-विरुद्ध होगा क्योंकि यह मुक्ति को, जो आध्यात्मिक परिवर्तन है, मृत्यु जैसे जड़ और यांत्रिक परिवर्तन पर आश्रित कर देगा—और यह तो बेतुकी बात है। शंकर अपने-आप स्वीकार करते हैं कि इन उदाहरणों में निष्काम कर्म मुक्ति या ब्रह्म होने के साथ असंगत नहीं है और अगर पूर्वमीमांसा के साथ उनका बौद्धिक विरोध का संबंध उन्हें तंग न करता तो वे इसे और भी ज्यादा बिना शर्त के स्वीकार कर लेते। अतः इससे प्रमाणित होता है कि कर्म मुक्ति के साथ असंगत नहीं है बल्कि

इसके विपरीत बड़े-से-बड़े जीवन-मुक्तों और स्वयं भगवान् की शिक्षा और उनके व्यवहार दोनों ने ज्ञान और निष्काम कर्म को संयुक्त कर भक्ति के लिये एक और अद्वितीय पथ बना दिया है।

फिर भी एक युक्ति रह जाती है, यह कहा जा सकता है कि कर्म भले मुक्ति के साथ असंगत न हो, हो सकता है कि मुक्ति का एक मार्ग हो परंतु अंतिम अवस्था में वह मुक्ति के लिये जरूरी नहीं है। मैं यह मानता हूं कि अमुक कार्य मुक्ति के लिये आवश्यक नहीं हैं। मुक्ति पाने के लिये जरूरी नहीं है कि गृहस्थ जीवन को जारी रखा जाये लेकिन श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में स्पष्ट, अकाट्य रूप से कह दिया है कि जो कोई भी शरीरस्थ है वह कर्म से मुक्त नहीं हो सकता। और गीता का यह वक्तव्य तर्क के साथ पूरी तरह मेल खाता है। क्योंकि जो मनुष्य संसार को पीछे छोड़कर किसी पर्वत-शिखर पर या आश्रम में जा बैठता है वह स्पष्टतः इतने से ही कर्म से छुटकारा नहीं पा लेता। और कुछ नहीं तो उसे अपना शरीर धारण करना पड़ता है, खाना, चलना अपने अंगों को गति देना या फिर आसन जमाकर ध्यान में बैठना पड़ता है और ये सब कर्म हैं। अगर वह अभीतक मुक्त नहीं है तो ये कर्म उसके लिये बंधन होंगे और अपने तथा औरों के साथ संबंध रखनेवाले फल लायेंगे। अगर वह मुक्त भी है तो जबतक उसका देहपात न हो जाये उसका शरीर और मन कर्म से मुक्त नहीं होते बल्कि प्रारब्ध के आवेश चलते रहते हैं जबतक प्रारब्ध और उसके फल पूरे नहीं हो जाते। नहीं, बड़े-से-बड़ा योगी भी इस प्रपंचात्मक जगत् में केवल शारीरिक उपस्थिति द्वारा ही सभी दिशाओं में आध्यात्मिक शक्ति की धारा बहाये जाता है और यद्यपि उसका यह कर्म उसके लिये बंधन नहीं होता फिर भी औरों पर बहुत बड़ा प्रभाव डालता है। वह इच्छा किये बिना ही "सर्वभूतहिते रतः" होता है। अपने शरीर के बारे में वह भी अवश है और उसे प्रकृति के गुणों को कार्य करने देना पड़ता है। इसलिये हर उस आदमी को, जो अपने "कर्तव्य कर्म" को अपने पीछे छोड़ देना चाहता है, यह देखना चाहिये कि इस तरह वह अपने प्रारब्ध की पूर्ति को किसी आगामी जीवनतक स्थगित तो नहीं करता जाता और इस तरह अपने-आपको उस

पुनर्जन्म के लिये बाधित करता है जिससे वह बचना चाहता है।

शिष्य—लेकिन यह कैसे हो सकता है कि जीवन-मुक्त अपने पिछले कर्मों से बंधा रहे ? क्या मुक्ति हमारे पिछले कर्मों को अग्नि में भस्मसात् नहीं कर देती ? मनुष्य एक साथ मुक्त और बद्ध कैसे रह सकता है ?

गुरु—मुक्ति तुम्हारे भावी कर्मों को बंधन पैदा करने से रोकती है; लेकिन पिछले कर्मों के बारे में क्या होगा जो पहले ही बंधन पैदा कर चुके हैं ? वस्तुतः जीवनमुक्त बद्ध नहीं होता क्योंकि वह भगवान् के साथ एक होता है और भगवान् अपनी प्रकृति के स्वामी हैं, दास नहीं। परंतु इस जीवात्मा के साथ लगी प्रकृति ने बंधन के भ्रम में रहते हुए कारण उत्पन्न किये थे और उसे अपने कार्य पूरे कर लेने देना होगा अन्यथा कार्य-कारण शृंखला टूट जायेगी और प्रकृति की सारी व्यवस्था गड़बड़ा कर अस्त-व्यस्त हो जायेगी, "उत्सीदेयुरिमे लोकाः" आदि। लोकों को बनाये रखने के लिये जीवनमुक्त पैरोल पर छूटे हुए बंदी की तरह काम करता रहता है जो औरों के द्वारा बद्ध नहीं होता परंतु अपने लिये पहले से निश्चित कारावास की अवधि समाप्त होनेतक अपने-आपको बंद रखता है।

शिष्य—वस्तुतः, इस विषय पर यह नया प्रकाश है।

गुरु—यह कोई नया प्रकाश नहीं है, यह उतना ही पुराना है जितना कि सूर्य क्योंकि यह स्पष्ट रूप से गीता में कहा गया है और गीता की शिक्षा में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह उन्होंने विवस्वान्—सौर मंडल के विष्णु—को दी थी और उन्होंने मनु को दी जो आदि मानव थे और मनु ने महान् राजर्षियों, उनके वंशजों को दी। नहीं, यह वस्तुओं की प्रकृति से उठता है। इस मामले में सारी गड़बड़ मुक्ति के बारे में अधिकचरी समझ से पैदा होती है। लोग कर्म से क्यों भागते हैं और मुक्ति की तलाश में कर्तव्य-कर्म को क्यों छोड़ देते हैं ? क्योंकि उन्हें फिर से बंधन में पड़ने से डर लगता है, वे मुक्ति के अवसर को खोने से डरते हैं। लेकिन मुक्ति है क्या ? मुक्ति छुटकारा है—लेकिन किससे ? अविद्या से, महान् निर्जान से, इस विश्वास से कि तुम सीमित और बद्ध हो जब कि तुम हो असीम ब्रह्म जो कभी बद्ध नहीं हो सकता। जिस क्षण तुम यह अनुभव कर लो कि अविद्या भ्रम है,

कि ब्रह्म के सिवाय कुछ है ही नहीं, ब्रह्म के सिवाय न कभी कुछ था और न कभी कुछ होगा, इसका अनुभव कर लो, मैं कहता हूँ, केवल बौद्धिक दृष्टि से इस विचार को पकड़ न लो बल्कि अनुभव कर लो, उस क्षण से तुम मुक्त हो और हमेशा रहे हो। अविद्या ठीक इसी बात में है कि जीवात्मा सोचती है कि उसके सिवाय कुछ और भी है, वह स्वयं ब्रह्म से भिन्न है, कोई ऐसी चीज है जो उसे बांधती है, जब कि वास्तव में ब्रह्म होने के नाते वह बद्ध नहीं है, कभी बद्ध नहीं थी, बद्ध हो ही नहीं सकती और होगी भी नहीं। एक बार यह अनुभव हो जाये तो जीवात्मा को कर्म का कोई भय नहीं रह सकता क्योंकि उसे पता होता है कि बंधन के जैसी कोई चीज है ही नहीं। वह इस जगत् में अपने कार्य करने के लिये पूरी तरह तैयार होगी बल्कि पुनर्जन्म लेने के लिये भी तैयार होगी, जैसे कि स्वयं श्रीकृष्ण ने बार-बार जन्म लेने का वचन दिया है, क्योंकि तब उसे पुनर्जन्म का भी भय नहीं रहता क्योंकि उसे मालूम होता है कि वह फिर से अविद्या के राज्य में नहीं गिर सकती, जबतक कि वह जान-बूझकर उसकी इच्छा न करे क्योंकि एक बार मुक्त, सदा के लिये मुक्त। अगर वह फिर से जन्म ले तो वह इस पूर्ण ज्ञान के साथ जन्म लेगी कि वास्तव में वह क्या है, उसे पिछले जन्मों और समस्त भविष्य का पता होगा, वह जीवन-मुक्त की तरह कर्म करेगी।

शिष्य—अगर यह बात सच है कि एक बार मुक्त सदा के लिये मुक्त तो उन बातों के बारे में क्या समझा जाये कि बड़े-बड़े ऋषि और योगी अविद्या के राज्य में जा गिरे थे ?

गुरु—मनुष्य जीवन-मुक्त हुए बिना भी बड़ा ऋषि या योगी हो सकता है। योग और आध्यात्मिक शिक्षा मुक्ति के मार्ग हैं स्वयं मुक्ति नहीं, श्रुति ने कहा है, “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।”

शिष्य—तो क्या जैसा श्रुति ने कहा है, जीवन-मुक्त सचमुच सौ वर्ष जीना चाहेगा ? क्या जो मुक्त हो चुका है उसमें कामना हो सकती है ?

गुरु—जीवन-मुक्त सौ वर्ष और अगर जरूरत हो तो उससे भी अधिक जीने के लिये तैयार होगा परंतु यह सलाह जीवन-मुक्त को या मनुष्यों की किसी श्रेणी विशेष को नहीं बल्कि साधारण रूप से दी गयी है। तुम्हें सौ

वर्ष की उस अवधितक जीने की इच्छा करनी चाहिये जो तुम्हें दी गयी है क्योंकि शरीरस्थ तुम ब्रह्म हो जो स्वयं अपनी शक्ति के बल पर अपने-आप अपने लिये सृजन, संरक्षण और विनाश की लीला कर रहा है। इस दृष्टि में ब्रह्म ईश, स्रष्टा और विनाशक है और तुम भी ईश, स्रष्टा और विनाशक हो। एक उग्र रूपक का प्रयोग करें तो तुमने अपने मनोरंजन के लिये यह कल्पना कर ली है कि तुम किसी विशेष नाटक के लिये एक शरीर विशेषतक सीमित हो, जैसे कोई अभिनेता अपने-आपको दुष्यंत, राम या रावण मान लेता है और बहुधा अभिनेता अपने-आपको उस पात्र में भूल जाता है और अपने-आपको वही समझने लगता है जिसका वह अभिनय कर रहा है। वह भूल जाता है कि वह सचमुच दुष्यंत या राम न होकर वह देवदत्त है जो इनके अतिरिक्त सैंकड़ों पात्रों का अभिनय करता है। फिर भी, जब वह इस भ्रम को झाड़ देता है और याद करता है कि वह तो देवदत्त है तो वह मंच से भाग नहीं निकलता और अभिनय करने से इंकार करके नाटक को तहस-नहस नहीं कर डालता बल्कि अपना अच्छे-से-अच्छा अभिनय करता चला जाता है जबतक कि पर्दा गिरने का ठीक समय न हो जाये। हम सबको ऐसा ही करना चाहिये, चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, जीवन-मुक्त हो या मुमुक्षु, सदा यह याद रखना चाहिये कि इस संसार का उद्देश्य है सृजन और हमारा काम यह है कि जबतक इस शरीर में हैं, सृजन करते चलें। एकमात्र भेद यह है कि जबतक हम अपनी आत्मा को भूले रहें तबतक हम प्रकृति की बाध्यता के आधीन होकर नौकरों की तरह सृजन करते हैं मानों हम दास हों और उसके कर्मों से बंधे हों जिन्हें हम अपना कर्म सोच लेते हैं; लेकिन जब हम आत्मा को जान लें और सच्ची आत्मा का अनुभव कर लें तो हम अपनी प्रकृति के स्वामी होते हैं और उसके सृजनों के दास नहीं होते। हमारी आत्मा हमारी प्रकृति के कर्मों की साक्षी, मौन द्रष्टा बन जाती है। इस तरह हम दर्शक और अभिनेता दोनों होते हैं और चूंकि हम सारी चीज को स्वयं कर्म नहीं केवल कर्म का भ्रम जानते हैं, चूंकि हम जानते हैं कि राम सचमुच रावण को मार नहीं रहे और न रावण ही मारा जा रहा है, क्योंकि वस्तुतः रावण जितना मृत्यु से पहले जीवित था

उतना ही मृत्यु के बाद भी जीवित है, उसी तरह हम न अभिनेता हैं न द्रष्टा बल्कि केवल आत्मा हैं और जो कुछ हम देखते हैं वह केवल आत्मा के दृश्य हैं—श्रुति बहुधा किसी और शब्द का उपयोग करने की जगह ऐश्वर्य (देखा) शब्द का उपयोग उन धारणाओं के लिये करती है जिनसे ब्रह्म अपने-आपको, अपने विश्व को आबाद करता है। अतः मुमुक्षु अपने समय से पहले जीवन को छोड़ने की इच्छा या कोशिश न करेगा; उसी भांति वह इस जीवन में कर्म त्यागने की कोशिश या इच्छा भी न करेगा। वह केवल कर्मफल की कामना को छोड़ना चाहेगा। क्योंकि अगर वह अधीरता के साथ अपने जीवन के धागे को उसके समुचित रूप से काते जाने से पहले तोड़ने की कोशिश करेगा तो वह जीवन-मुक्त न होकर आत्मघाती होगा और वह जो चाहता है उससे ठीक उल्टा परिणाम पायेगा। उपनिषद् ने कहा है :

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

शंकर इस मंत्र को अजीब तरह से लेते हैं। आत्महनो का अर्थ आत्मा का हनन करनेवाला करते हैं और चूंकि यह स्पष्ट रूप से बेतुकी बात है क्योंकि आत्मा शाश्वत है और उसका हनन नहीं किया जा सकता इसलिये वे कहते हैं कि यह एक रूपक है जिसका अर्थ है आत्मा को अविद्या के भ्रम में डालना जो जन्म की ओर ले जाता है। यह बड़ा ही चौकानेवाला, उग्र और अप्रासंगिक रूपक है क्योंकि इस विचार को किसी भी सामान्य स्वाभाविक ढंग से व्यक्त किया जा सकता था। फिर भी श्रुति रूपकों से भरी है और केवल इसी कारण से हमारा शंकर के भाष्य को अस्वीकार करना न्यायसंगत न होगा। हमें देखना होगा कि मंत्र का बाकी भाग इस अर्थ के साथ मेल खाता है या नहीं। हम देखते हैं कि अपनी दृष्टि का समर्थन करने के लिये शंकर इस वाक्य के सीधे-सादे शब्दों की आश्चर्यजनक ढंग से तोड़-मरोड़ करने के लिये बाधित होते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि परात्मा जन्म और देवत्व के ऊपर है। असुर्या का अर्थ दैविक से उल्टा आसुरिक ही हो सकता है। देव आसुरी-जन्म नहीं हो सकते जो परात्मा के विपरीत और

परात्मा के दैवी जन्म के विपरीत हों। लेकिन यह शब्दों का दुरुपयोग है... का अर्थ भिन्न प्रकार के जन्म से है जिसमें देवों को भी आसुरी जन्म में गिन लिया जाता है और तब वे 'लोक' शब्द को विभिन्न प्रकार के जन्मों के अर्थ में ले लेते हैं। तो असुर्या लोकाः का अर्थ होगा मनुष्य, पशु आदि विभिन्न प्रकार के जन्म। इन्हें आसुर इसलिये कहा गया क्योंकि इनमें रजस् प्रधान होता है और इनमें आसुरी प्रवृत्ति होती है। आसुरिक लोकों के लिये यह विचित्र और अद्वितीय अर्थ है। जीवात्मा जो अनेकानेक रूप धारण करती है उसके लिये 'लोकाः' शब्द का उपयोग कभी नहीं होता, यह उन विभिन्न स्थितियों के अलग-अलग वातावरण के लिये उपयुक्त होता है जिनमें से वह गुजरती है और उनमें एक है इस जगत् का जीवन। हम इहलोक या मर्त्यलोक, परलोक या स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक आदि तो कहते हैं लेकिन कभी पशुलोक, पक्षिलोक, कीटलोक नहीं कहते। अगर हम आसुर-लोक कहें तो हमारा अर्थ अंधकार, विषाद के क्षेत्रों के सिवा कुछ नहीं हो सकता जो ब्रह्मलोक, गोलोक, स्वर्गलोक आदि दिव्य लोकों से विपरीत हैं। यह साधारण अर्थ है जिसका उपयोग तब होता है जब हम मृत्यु के बाद कहीं और जाने की बात करते हैं और हमें अपने तर्क के अनुकूल बनाने के लिये इसे किसी और अर्थ में न लेना चाहिये। और फिर 'ये के' शब्द अपने विशिष्ट अर्थ को खो बैठते हैं, यदि हम उनका उपयोग—जो आंशिक या पूर्ण मुक्ति पा लेते हैं उनके सिवा—सभी जीवित प्राणियों के लिये कर लें। स्पष्ट है कि इसका अर्थ होगा बहुतों में से कुछ। जब शंकर की व्याख्या श्रुति की भाषा में इतनी विकृतियां ले आये और शब्दों के माने हुए अर्थों से इतनी दूर खींच ले जाये तो हमें शंकर का अनुसरण करने से भी इंकार कर देना चाहिये।

शब्दों का सामान्य अर्थ स्पष्ट और सुसंगत भाव देता है। श्रुति हमें बतलाती है कि अपने जीवन को छोटा करने या आत्मघात की शरण लेने से कोई लाभ नहीं क्योंकि जो आत्मघात करते हैं वे मोक्ष पाने की जगह मरकर अंधकार की और भी अधिक गहरी कारा में—अंधकारमय निराशा से लिपटे आसुरिक जगत् में—डुबकी लगाते हैं।

शिष्य—तो क्या धरती के नीचे पाताल देश वास्तविक हैं और मरने के बाद आत्मा उनमें जाती है ? लेकिन अब तो हम जानते हैं कि धरती के नीचे कुछ भी नहीं है, धरती तो गोल है और वायु से ज्यादा बुरी और किसी चीज से नहीं घिरी है ।

गुरु—शब्दों से पथभ्रष्ट न, होओ । आसुरिक लोक यथार्थता हैं, वे निराशा और अंधकार के लोक हैं जो तुम्हारी अपनी सत्ता की अधोलोक की गहराइयों में स्थित हैं । लोक एक ऐसी जगह नहीं है जहां पहाड़, पेड़-पौधे और पत्थर होते हैं बल्कि वे जीवात्मा की एक स्थिति होते हैं और बाकी सब केवल स्वप्न की परिस्थितियां और व्यौर होते हैं । यह बात श्रुति की भाषा से स्पष्ट हो जाती है जब वह लोकों या अगले जगत् 'लोके' या 'अमुष्मिन् लोके' के अच्छे या उसके विपरीत होने की बात करती है । स्पष्ट है कि लोक का अर्थ है स्थिति या अवस्था । मर्त्यलोक आवश्यक रूप से यह पृथ्वी नहीं है जिसे हम देखते हैं क्योंकि मर्त्य सत्ताओं के अन्य निवासस्थान भी हो सकते और होने चाहियें । स्थूल शरीर में मर्त्यता की स्थिति है मर्त्यलोक, स्वर्गलोक है सूक्ष्म शरीर में आनंद की स्थिति, नरक है सूक्ष्म शरीर में दुःख-दैन्य की अवस्था, ब्रह्मलोक है कारण शरीर में हिरण्यगर्भ के निकट होने की स्थिति । जैसे जीवात्मा मर्त्य अवस्था में रहते हुए स्वप्न-द्रष्टा की तरह धरती और उसके आकार-प्रकार को और अपने-आपको किसी विशेष स्थान पर मानती है उसी तरह जब वह अपने सूक्ष्म शरीर में पूरी तरह तमस् की अवस्था में होती है तो वह मानती है कि वह ऐसे स्थान में है जो चारों ओर से घने अंधेरे से घिरा हुआ, वीभत्स अकथनीय दुःख-दैन्य का स्थान है । इस अंधकारमय जगत् को पृथ्वी के नीचे, मर्त्य अवस्था की परिस्थितियों के नीचे माना जाता है, क्योंकि पृथ्वी का वह पार्श्व जो सूर्य से मुंह मोड़े हुए है, उसे निम्न भाग माना जाता है जब कि स्वर्ग पृथ्वी के ऊपर है क्योंकि पृथ्वी का वह पार्श्व जो सूर्य की ओर अभिमुख है उसे उच्चतर दिशा, प्रकाश और सुख का स्थान माना जाता है । अतः पूर्ण आनंद के जगत् सूर्य से शुरू होकर सूर्य से ऊपर ब्रह्मलोक तक जाते हैं । लेकिन ये सब शब्द हैं, स्वप्न हैं क्योंकि नरक, पाताल, स्वर्ग और धरती सभी स्वयं

जीवात्मा में हैं, उसके बाहर नहीं। फिर भी हम सब अभीतक स्वप्नद्रष्टा ही हैं इसलिये हमें स्वप्न की भाषा और परिभाषा में ही बोलना चाहिये।

शिष्य—तो फिर अधोलोक की उदासी के ये जगत् क्या हैं ?

गुरु—जब कोई आदमी बड़े कष्ट में और बहुत दुःख में या बहुत उत्तेजना में मरता है और उसके अंतिम विचार भय, क्रोध, दुःख या संत्रास से भरे होते हैं तो सूक्ष्म शरीर में से जीवात्मा उनके संस्कारों को अपने मन से वर्षों और कभी-कभी सदियोंतक नहीं झाड़ सकती। इसका कारण है मृत्यु का विधान। मृत्यु है अत्यधिक एकाग्रता का क्षण जब जानेवाली आत्मा अपने मर्त्य जीवन के संस्कारों को इकट्ठा करती है जैसे यात्रीदल रास्ते के लिये पाथेय इकट्ठा करता है और उस समय जो भी संस्कार प्रमुख हों वे ही बाद की उसकी स्थिति पर शासन करते हैं। इसीलिये, मुक्ति के अतिरिक्त, उदात्त और शुद्ध जीवन जीने और निश्चल और प्रबल मृत्यु मरने का महत्त्व है। क्योंकि उस समय जो विचार और भाव सबसे ऊपर होते हैं वे ही आत्मा का इस स्थूल शरीर और प्राणिक क्रियाओं के साथ, यानी निचली उपाधि के साथ नाता जोड़ते हैं। तब अंतरात्मा लंबे समयतक अंधकार और पीड़ा की तामसिक स्थिति में रहती है जिसे हम पाताल या सबसे बुरी अवस्था में नरक कहते हैं। अगर उस समय सबसे ऊपर के विचार और संस्कार ऐसे हों जो आत्मा का संबंध मन और उच्चतर कामनाओं के साथ जोड़ते हों तो आत्मा तेजी से थोड़े समय के अंधेपन को पार करके प्रकाश, सुख और अधिक विस्तृत ज्ञान—रजसो-सात्त्विक—की स्थिति में जा पहुंचती है जिसे हम स्वर्ग या बहिस्त कहते हैं, जहां से वह लौटकर इसी जगत् में जन्म लेगी। अगर विचार या संस्कार ऐसे हों जो आत्मा का मेल उच्चतर प्रज्ञा और आत्मानंद के साथ करवा दें तो आत्मा तेजी से उच्चतम आनंद की सात्त्विक स्थिति में जा पहुंचती है जिसे हम स्वर्ग या ब्रह्मलोक कहते हैं जहांसे पुनरागमन नहीं होता। परंतु अगर हम अपनी आत्मा को परम आत्मा के साथ आत्मसात् करना सीख लें तो मृत्यु से पहले ही हम भगवान् हो जाते हैं और मरकर कुछ और नहीं बनते। माया की तीन अवस्थाएं होती हैं, तामसिक माया, राजसिक माया और सात्त्विक माया; और

वहांतक पहुंचने के लिये, जो भ्रम या माया नहीं है बल्कि एक और एकमात्र सत्य है; हमें तीनों से क्रमशः पीछा छुड़ाना होता है।

श्रुति का कहना है कि जो अपना हनन करते हैं वे अंधकार के अधोलोक में जाते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी आत्मा को शरीर के साथ जोड़ लिया है और यह कल्पना कर ली है कि शरीर से पिंड छुड़ाकर वे मुक्त हो जायेंगे लेकिन वे दुःख, अधीरता, घृणा और पीड़ा से भरे हुए संस्कार लेकर मरते हैं। उदासी की इस अवस्था में वे लगातार अपने जीवन के अंतिम दृश्यों, उसके संस्कारों और उसकी उग्रतापूर्ण अशांति को दोहराते रहते हैं और जबतक ये चीजें घिसकर झड़ न जाएं तबतक उनके मनो को शांति नहीं मिल सकती। कोई भी आदमी अपनी मूर्खता या अधीरता के कारण ऐसे सर्वनाश को निमंत्रण न दे।

शिष्य—मुझे लगता है कि उपनिषद् इन तीन मंत्रों में स्पष्ट और एक-दूसरे से संबद्ध प्रतिपादन करता है लेकिन अगले ही मंत्र में उपनिषद् अचानक किसी असंबद्ध चीज की ओर चल पड़ता है।

गुरु—नहीं वह कहता है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

श्रुति ने कहा है कि तुम्हें अपनी सभी चीजें प्रभु में प्रतिष्ठित करनी चाहियें। परंतु वस्तुतः इसका मतलब यह है कि तुम्हें यह अनुभव करना चाहिये कि कैसे सभी चीजें पहले ही से उनमें प्रतिष्ठित हैं, इसके बाद वह यह बताने लगती है कि यह कैसे है और यह संकेत देती है कि ईश ही ब्रह्म, एकमेव है जिसे अपनी सृजनशील क्रिया द्वारा पुरुष और प्रकृति के रूप में देखा जाता है और ईश कहा जाता है। अतः, अब उसके लिये नपुंसक लिंग के सर्वनाम का उपयोग किया जाता है, उसकी बातें करते हुए तत् और इदम् कहा जाता है क्योंकि ब्रह्म लिंग और भेद-भाव से ऊपर है। वह एक है फिर भी एक साथ अचल है और मन से भी अधिक तेज गतिवाला है। वह पुरुष और प्रकृति दोनों है, फिर भी साथ-साथ दोनों में से एक भी नहीं,

बल्कि एकमेव है और है अविभक्त; पुरुष और प्रकृति तो मात्र उसके मन में संकल्पनाएं हैं जिन्हें बहु की सृष्टि के लिये सोद्देश्य प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति की तरह वह मन से अधिक तेज है क्योंकि प्रकृति उसकी सर्जकशक्ति है जो गति द्वारा जड़-पदार्थ और उसके रूपों को बनाती है। समस्त सृजन गति है, समस्त क्रियाशीलता गति है। बाहर से स्थिर दीखनेवाला यह सारा विश्व वास्तव में बहुमुखी गति की स्थिति में है, हर चीज गति द्वारा अकल्पनीय तेजी से घूम रही है। यहांतक कि विचार भी, जो हमारी जानी हुई चीजों में सबसे अधिक तेज है, वैश्व गति के वेग की बराबरी नहीं कर सकता। और यह समस्त गति, सदा घूमनेवाला यह सारा विश्व, यह सारा ब्रह्मांड ब्रह्म ही है। देवता, इन्द्रियों के स्वामी अपनी अधिक-से-अधिक तेज गति में उस ब्रह्मतक नहीं पहुंच सकते क्योंकि वह आगे-आगे दौड़ता जाता है। आंख, कान, मन कोई भी भौतिक वस्तु उसतक नहीं पहुंच सकती, ब्रह्म की अकल्पनीय सृजन-क्रिया की कल्पनातक नहीं कर सकती। हम उसका पीछा करने की इस तरह कोशिश करते हैं मानों सौर मंडल में से प्रकाश की मूसलाधार वर्षा हो रही हो और देखो ! इधर हम प्रयास में लगे होते हैं उधर वह आंखों की, दूरबीनों की अधिक-से-अधिक पहुंच से परे, स्वयं विचार के आलोक की अधिकतम दूरियों के परे नये-नये विश्व घड़ने में लगा होता है। विश्व के अस्तित्व में निहित आश्चर्यजनक गति और विस्मयकारक विचार की क्रियाशीलता के आगे भौतिक इन्द्रियां मंद पड़ जाती हैं फिर भी वह जो सबको पीछे छोड़ जाता है, वह दौड़ता नहीं खड़ा रहता है। जब कि हम उसके पीछे एड़ी-चोटी का पसीना एक करते हैं, वह सारे समय यहां, हमारे पास, हमारे सामने, हमारे पीछे, हमारे साथ, हमारे अंदर रहता है। सचमुच वह जरा भी नहीं हिलता। यह सारी गति हमारी अपनी अविद्या का परिणाम है जो हमें यह विश्वास दिलाकर, हमें यह कल्पना करने की प्रेरणा देकर कि हम सीमित हैं, हमारे विचारों को देश और काल की अवस्था के आधीन कर देती है। अपनी सारी सृजनशील क्रियावली में ब्रह्म वस्तुतः एक ही जगह रहता है। वह एक ही समय में सूर्य में भी होता है और यहां भी, लेकिन उसका अनुभव करने

के लिये हमें सूर्य से पृथ्वीतक उसका अनुसरण करना होता है। और हमारे विचारों की यह गति, और हम तय की हुई दूरी और बीते हुए समय के इस संवेदनशील संस्कार को अपने विचार का न मानकर ब्रह्म का मान लेते हैं जैसे दौड़ती हुई रेल में बैठे हुए आदमी के अंदर यह संवेदनशील संस्कार होता है कि हर चीज दौड़ रही है, केवल उसकी गाड़ी खड़ी हुई है। विद्या उसे बतलाती है कि बात ऐसी नहीं है। तो विश्व की हलचल, सचमुच हमारे मन की ही हलचल होती है—और सचमुच हमारा मन भी नहीं हिलता-डुलता। जिसे हम मन कहते हैं वह बहुत्व के भाव के साथ खेलता हुआ धारणा का खेल है जो रूप में गतिशील विचार बन जाता है। वास्तव में पुरुष गतिशून्य है; वह वास्तव में एक ऐसे नाटक का गतिशून्य मूक द्रष्टा है जिसमें वह स्वयं रंगमंच, रंगशाला, दृश्य, अभिनेता और अभिनय है। वह कवि शेक्सपीयर है जो डेस्डेमोना और अंथिलो, हेमलेट और उसके हत्यारे चचा, रोजालिंड, जैक और वियोला और अपने ही उन सैंकड़ों रूपों को देखता है जो अभिनय करते, बोलते, सुख भोगते और दुःख सहते हैं, सब कुछ अपने-आप है फिर भी अपने-आप कुछ भी नहीं है, जो मौन साक्षी बनकर बैठता है, जो उनका स्मृष्टा तो है परंतु जिसका उनके कर्मों में कोई भाग नहीं है फिर भी जिसके बिना उनमें से एक का भी अस्तित्व न होता। यह जगत् की पहली और उसका विरोधाभास है और फिर भी उसका एकमात्र स्पष्ट, सरल और आसान-सा सत्य है।

शिष्य—अब मैं समझ पाया। लेकिन जलों के अंदर अचानक यह मातरिश्वा कहां से आ टपका? शंकर अपः का अर्थ करते हैं कर्म। क्या यह इसे मंत्र के बाकी हिस्से के साथ ज्यादा सामंजस्य में नहीं ले आयेगा?

गुरु—शायद। अपः का ठीक अर्थ है जल, लेकिन आओ देखें कि क्या उसका उचित भाव लेकर हम अधिक स्पष्ट अर्थतक नहीं पहुंच सकते। श्रुति का कहना है कि यह अनंत रूप से गतिशून्य फिर भी अनंत रूप से गतिशील ब्रह्म ही है जिसमें मातरिश्वा जलों को स्थापित करता है। अब हम जानते हैं कि शास्त्रों ने हमें इस जगत् की क्या धारणा दी है। वे सभी चीजें जिन्हें हम सृष्टि कहते हैं और जिन्हें भौतिक विज्ञान विकास कहता है,

वास्तव में एक सीमांकन है; जैसा कि हम कहते हैं सृष्टि है समग्र में से एक भाग का छूट पड़ना या जैसा वैज्ञानिक कहते हैं (वे उसे प्राकृतिक चयन कहते हैं) चयन या जैसा हमें कहना चाहिये, प्रकृति की क्रिया द्वारा एक बड़े भंडार में से अंश का, विशेष में से सामान्य का चयन। तो हमने देखा है कि सुषुप्ति की स्थिति या प्रज्ञा ढील देने की स्थिति है या हम यूँ कहें कि विशालतर वैश्व चेतना में से चेतना के किसी भाग का चयन है; स्वप्न-चेतना या हिरण्यगर्भ अधिक विस्तृत सुषुप्ति-चेतना और जाग्रत्-चेतना में से चयन है; विराट् या वैश्वानर अधिक विस्तृत स्वप्न-चेतना में से चयन है; इसी तरह हर व्यक्तिगत चेतना एक अधिक विस्तृत वैश्व जाग्रत्-चेतना का चयन है; जहां हर पग अधिक तंग और अधिकाधिक तंग होती हुई चेतना में अंतर्लीन है, यहांतक कि हम चेतना के अत्यधिक संकीर्ण भागतक पहुंच जाते हैं जो प्रपंच के भौतिक और बाह्य जगत् के एक टुकड़े के बारे में ही सचेतन होता है। जड़ भौतिक सृष्टि की सृजन प्रक्रिया के बारे में भी यही बात है। अरूपायित प्रकृति में से—जिसे सांख्य प्रधान या मूल भाव कहता है, जिसे तुम जड़ तत्त्व, जीव-द्रव्य या जो मरजी कह लो—एक पक्ष या एक शक्ति को चुन लिया जाता है जिसे आकाश कहते हैं जिसकी दृश्य अभिव्यक्ति है ईश्वर। यह आकाश सभी रूपों का और भौतिक सत्ताओं का आधार है। आकाश में से एक अधिक संकीर्ण शक्ति को चुना जाता है या उसे खुला छोड़ दिया जाता है जिसे वायु या मातरिश्वा—माता के अंदर शयन करनेवाला—कहा जाता है क्योंकि वह सीधा मातृतत्त्व—आकाश में शयन या विश्राम करता है। यह वह महान् देव है जो ब्रह्म में जलों को अपने स्थान पर निश्चित करता है।

शिष्य—मेरा ख्याल है कि आप अलंकार-रूप में उसे देवता कहते हैं। विज्ञान ने पुराने अनगढ़ पौराणिक देवों का पत्ता काट दिया है।

गुरु—देवता हैं—वे अमर हैं और विज्ञान चाहे जितनी उग्रता के साथ उनसे इंकार करे पर उनका पत्ता नहीं काट सकता। केवल एक ब्रह्म का ज्ञान ही उन्हें दूर कर सकता है। क्योंकि हर महान्, तात्त्विक, प्राकृतिक तथ्य के पीछे एक विशाल जीवित शक्ति होती है जो ब्रह्म का एक पक्ष, उसकी एक

अभिव्यक्ति होती है, अतः उसे देवता से कम कुछ नहीं कहा जा सकता। मातरिश्वा इनमें सबसे अधिक बलशालिनी शक्तियों में से एक है।

शिष्य—तो फिर हवा देवता है या आंधी देवता है ? लेकिन यह तो केवल गैसों का एक समूह होता है।

गुरु—भौतिक विश्लेषण के अनुसार केवल यही और इससे अधिक कुछ नहीं; लेकिन उसके परे संश्लेषण को देखो। जड़-पदार्थ ही सब कुछ नहीं है और न विश्लेषण ही सब कुछ है; विश्लेषण द्वारा तुम यह सिद्ध कर सकते हो कि मनुष्य जंतुओं की राशि के सिवा कुछ नहीं है, इसलिये जड़वाद आग्रही तथा विद्वत्तापूर्ण मूर्खता के साथ दृढ़तापूर्वक डटा रहता है। लेकिन मनुष्य अपने-आपको जंतुओं की राशि मानना कभी स्वीकार न करेगा क्योंकि वह जानता है कि वह इससे अधिक है। वह विश्लेषण के परे संश्लेषण की ओर देखता है, वह घर के परे घर में रहनेवाले को, अंशों के परे उस शक्ति को देखता है जो उन अंशों को साथ रखती है। हवा के साथ भी यही बात है। वह मातरिश्वा की, इस पृथ्वी के लिये अभिव्यक्तियों में से एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है, उन मकानों में से एक है जिनमें मातरिश्वा निवास करते हैं लेकिन मातरिश्वा सभी लोकों में हैं, उन्होंने ही सब लोक बनाये हैं, उनके अपने रहने के लिये अनगिनत मकान हैं। उनकी सत्ता का तत्त्व है भौतिक रूप में प्रकट होनेवाली गति और हम जानते हैं कि सृष्टि गति से ही संभव होती है। अतः मातरिश्वा जीवन का तत्त्व है, सर्वव्यापी वैश्व प्राण का सागर है। मनुष्य में उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है वह शक्ति जो शरीर के अंदर गैसों के वितरण का संचालन करती है जिन्हें हम श्वास का नाम देते हैं।

शिष्य—फिर भी अधिकतर लोग इसे प्राकृतिक शक्ति कहेंगे, देवता नहीं।

गुरु—कहने को तुम उसे जो मरजी कह लो, केवल यह जानो कि मातरिश्वा ब्रह्म की एक शक्ति, नहीं, स्वयं ब्रह्म है जो अपने अंदर जलों को उनके अपने स्थान पर स्थित करते हैं। जैसे मातरिश्वा आकाश में से चयन हैं उसी तरह अग्नि मातरिश्वा में से और आपः अग्नि में से चयन है। यहां ध्यान

दो कि यह बहुवचन में अपः शब्द का उपयोग हुआ है, इसी तरह बहुधा श्रुति में अधिष्ठाता तत्त्व अग्नि के नाम का प्रयोग करने की जगह बहुवचन 'ज्योतीषि' का यानी ज्योतियों, भव्यताओं, चमकदार चीजों, अग्नि की विभिन्न अभिव्यक्तियों का उपयोग होता है। इसी तरह वह आपः; समस्त द्रव, वरुण की विभिन्न अभिव्यक्तियों का उपयोग करती है जो उनके पीछे अधिष्ठातृ शक्ति हैं। तुम्हें यह न सोचना चाहिये कि समुद्र का जल या वर्षा का जल ही इस तत्त्व की अभिव्यक्ति है। ठीक इसी तरह तुम्हें यह न मान लेना चाहिये कि उस परली वेदी में स्थित अग्नि या आकाश में स्थित सूर्य ही आग्नेय तत्त्व की एकमात्र अभिव्यक्ति है। प्रकाश के सभी आभास और हर चीज, जिससे गरमी निकलती है, उन सबका प्रत्यक्ष आधार या अधःस्तर अग्नि में है। जलों के साथ भी यही बात है जिनका गरमी आदि की क्रिया द्वारा अग्नि में से चयन किया जाता है। फिर इसी तरह समस्त पृथ्वी, सभी ठोस रूपों का आधार या अधःस्तर पृथ्वी या पार्थिव शक्ति में होता है जो द्रव तत्त्व या जल या वरुण में से चयन है। अब जीवन इसी भांति चलता है। वह मातरिक्षा या वायु-शक्ति को अपने मुख्य तत्त्व तथा आवश्यक अवस्था के रूप में लेकर आकाश के अधःस्तर पर उठता है। वह आग्नेय या प्रकाशतत्त्व द्वारा तरल में से उस ठोस में उठता है जो उसका शरीर है। अतः बहुधा श्रुति में कहा जाता है कि जड़ जगत् जलों में से उत्पन्न हुआ है क्योंकि जबतक वह तरल स्थिति में से न निकल आये तबतक कोई विश्व नहीं होता। जब भौतिक विज्ञान प्रकृति के पथ का अनुसरण करते हुए विश्लेषण द्वारा उजान की ओर बढ़ते हुए ठोस को तरल, तरल को आग्नेय और आग्नेय को वायव्य में बदलने की जगह अनुप्रवाह में प्रकृति की प्रणाली का अनुकरण करना शुरू करेगा और विशेष रूप से संक्रमण की नाजुक स्थितियों का अध्ययन और उपयोग करेगा तब जड़ भौतिक सृजन का रहस्य खुल जायेगा और तब विज्ञान आज की तरह भौतिक जीवन का केवल नाश करने की जगह उसका सृजन कर सकेगा। अब हम समझ सकते हैं कि जब श्रुति कहती है कि ब्रह्म के अंदर मातरिक्षा जलों को अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं तो इससे उसका क्या अर्थ होता है।

ब्रह्म समस्त भौतिक जीवन के पीछे की वास्तविकता हैं और सृजन की क्रियाएं उनकी वैश्व चेतना का सीमित अंश हैं और उस चेतना की नींव के बिना उन क्रियाओं का रहना असंभव है। शायद शंकर की यह भूल नहीं है कि वे अपः में 'क्रियाओं' का अर्थ देखते हैं। मातरिश्वा जिन विभिन्न प्राणिक क्रियाओं के अधिष्ठाता हैं उनमें मनुष्य-जाति के उद्देश्यों के लिये कर्म ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये याद रखो कि तुम जो कुछ करते हो, बनाते या नष्ट करते हो उसे तुम ब्रह्म के अंदर ही कर रहे, बना रहे या नष्ट कर रहे हो, कि वे तुम्हारे सभी कर्मों की स्थिति हैं। तुम अपने अंदर ब्रह्म को जितना अधिक आध्यात्मिक शक्ति के सागर के रूप में अनुभव करोगे, तीव्र बनाओगे, तुम्हारा सृजन और तुम्हारा विनाश उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा; तुम परम देव के अधिकाधिक निकट पहुंचोगे। क्योंकि आत्मा ही सब कुछ है, शरीर नहीं, तुम्हें शरीर के बारे में इतना ही सावधान रहना चाहिये कि वह आत्मा का वाहन मात्र है क्योंकि आत्मा की उपस्थिति के बिना, जो प्रकृति को कर्म करने की शक्ति देती है, प्रकृति बिल्कुल जड़ रहती, नहीं, उसका अस्तित्व ही न होता। क्योंकि प्रकृति अपने-आपमें महान् बलशाली शक्ति के सृजन के सिवा और क्या है जो आदिहीन और अंतहीन, शाश्वत की शक्ति है। कुछ ज्ञान और अंतरस्थ आत्मा की अनुभूति के बिना तुम्हारा कर्म महान् नहीं हो सकता और तुम्हारा ज्ञान जितना ही गहरा होगा, तुम्हारा कर्म उतना ही महान् होगा। सभी महान् स्रष्टा ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने अपने अंदर बलपूर्वक भगवान् का अनुभव किया था, फिर वे चाहे शंकर जैसे ओलम्पियन प्रकार के दैवी हों या नैपोलियन की तरह आसुरी प्रकार के। असुर का ज्ञान चूंकि सीमित और गदला होता है इसलिये वह सदा शाश्वत और प्रकृति की अस्थायी और स्थूलतर अभिव्यक्तियों में, उदाहरण के लिये अपनी काम-वासना और महत्वाकांक्षा के प्राणिक आवेगों में घपला कर देता है। देव सात्त्विक होता है और प्रकाश का बालक होता है और ज्यादा स्पष्ट देखता है। जब नेपोलियन चिल्ला पड़ा था, "फ्रेंच क्रांति है क्या ? मैं ही फ्रेंच क्रांति हूँ" तो उसने इस भाव को व्यक्त किया कि वह एक सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अधिक है, भगवान् की क्रियारत

शक्ति है जिसने उसे इतनी आश्चर्यजनक ऊर्जा और ऐसा व्यक्तित्व प्रदान किया; लेकिन चूँकि उसका मन रजस्, आवेगों और कामनाओं के कारण गदला था इसलिये वह यह न देख पाया कि फ्रेंच क्रांति होने का तथ्य ही उसे साम्राज्य और वैभव के प्राणिक भाग की संतुष्टि भर की अपेक्षा अधिक उच्च और विशाल आदर्शों की ओर इशारा करता, कि वह उसे विद्रोही मानवजाति के नेता होने की प्रेरणा देता, वह राष्ट्रीयता की उस अमर भावना को कुचलनेवाला नहीं होता जो स्वयं उसकी अपेक्षा भी अधिक महान् और अधिक ऊर्जावान्, शाश्वत शक्ति की अभिव्यक्ति थी। इसीलिये उसका पतन हुआ, इसीलिये आद्या शक्ति देवी चंडी, रणरंगिणी, नृमुंडमालिनी ने उससे अपने वराभय को खींच लिया और उसके विरुद्ध तबतक लड़ती रही जबतक उसने उसे अपने सिंह के पंजों द्वारा कुचलकर चीर-फाड़ नहीं डाला। अगर वह मानवजाति के नेता के रूप में गिरता—तब वह गिर न पाता फिर भी यदि गिर पड़ता—तो भी उसकी आत्मा मृत्यु के बाद विजय पाती और आनेवाली शताब्दियों में राष्ट्रों पर शासन करती और उन्हें मार्ग दिखाती। इसलिये ज्ञान प्राप्त करो, अपने अंदर स्थित ब्रह्म का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करो और उसे निष्काम कर्म द्वारा अपनी जाति के लिये, अपने देश के लिये, मानवजाति के लिये, सारे विश्व के लिये निःस्वार्थ कर्म में प्रकट करो, तब तुम इस मर्त्य शरीर में निश्चित रूप से ब्रह्म बन जाओगे और मृत्यु द्वारा अपने अंदर शाश्वतता को धारण कर लोगे।

तब श्रुति ईश के स्वभाव को प्रतिपादित करके और उसे ब्रह्म के साथ तदात्म करके उसके अज्ञेय परब्रह्म और विश्व के स्वामी के दोहरे रूप के आभासी द्वंद्वों का संक्षिप्त विवरण देती है कि वे विश्व के अंदर आत्मा और तुम्हारे शरीर के अंदर आत्मा हैं। जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है वह तत् जो गति करता है और जो गति नहीं करता, जो दूर है और वह तत् जो बिल्कुल नजदीक है, वह जो इस सबके भीतर है और वही जो सबके बाहर है।

शिष्य—इस वक्तव्य में तो कोई कठिनाई नहीं है।

गुरु—नहीं, एक बार चाबी मिल जाये तो कोई कठिनाई नहीं रहती,

लेकिन यह अनुभव करने की कोशिश करो कि इसका अर्थ क्या है। अपनी आंखें सूर्य की ओर उठाओ, वह उस अद्भुत प्राण, प्रकाश और वैभव के हृदय में है। रात के समय अनगिनत तारा-मंडलों को देखो जो उस असीम नीरवता में शाश्वत की भव्य पहलू की आग की तरह दमक रहे हैं; वह नीरवता शून्य विस्तार नहीं है बल्कि एक अनन्य शांति और विस्मयकारी अस्तित्व की उपस्थिति से स्पंदित होती है। वहां अपने खड्ग सहित ओरायन (मृग) को अपनी मेखला सहित उस तरह चमकते देखो जैसे वह आर्ययुग के आरंभ में दस हजार वर्ष पहले हमारे आर्य पूर्वजों के आगे चमका करता था, अपनी भव्यता में सीरिअस (लुब्धक), आकाश-सागर में करोड़ों, अरबों मील दूर तैरते हुए लाइरा (वीणा) को देखो। याद रखो कि ये अनगिनत लोक, जिनमें से अधिकतर हमारी पृथ्वी से अधिक बड़े और बलवान् हैं, अवर्णनीय गति से उस काल के चिर पुराण के इशारे पर घूम रहे हैं, कहां ? किस ओर ? स्वयं उसके सिवा कोई नहीं जानता। फिर भी वे तुम्हारे हिमालय से करोड़ों गुना अधिक पुराने, तुम्हारे पर्वतों की जड़ों से कहीं अधिक स्थायी और ऐसे ही बने रहेंगे जबतक कि उसकी इच्छा उन्हें विश्व के शाश्वत वृक्ष से सूखे पत्तों की तरह झाड़ नहीं देती। काल की अनंतता के बारे में कल्पना करो, देश की असीमता का अनुभव करो और फिर यह याद करो कि जब ये लोक नहीं थे, तब भी वह था, वैसा ही जैसा अब है और जब ये नहीं रहेंगे तब भी वह रहेगा, तब भी ठीक ऐसा ही रहेगा। देखो वीणा के परे भी वह है और देश (आकाश) में बहुत दूर जहां से त्रिशंकु भी नहीं दिखायी देता, वहां भी वह है। और फिर धरती पर लौट आओ और यह पता लगाओ कि यह "वह है कौन" ? वह तुम्हारे बहुत निकट है। उस ओर नजर डालो; लाठी लेकर चलते हुए उस बूढ़े को देखो जो झुका हुआ, घुटने मोड़े तुम्हारे सामने से जा रहा है। क्या तुम यह अनुभव करते हो कि यह भगवान् ही जा रहा है ? उधर धूप में हंसता हुआ एक लड़का भागा जा रहा है। क्या तुम्हें उसकी हंसी में भगवान् की हंसी सुनायी दे रही है ? नहीं, वह इसकी अपेक्षा भी अधिक नजदीक है, वह तुम्हारे अंदर है वह तुम ही हो। तुम ही करोड़ों मील दूर देश के अनंत

विस्तार में प्रज्वलित हो रहे हो, तुम ही विश्वस्त चरणों से वायवीय सागर की उठती-गिरती लहरों पर चलते हो; तुमने ही तारों को अपने स्थान पर जड़ा है और हाथों से नहीं उस योग से, उस नीरव निष्क्रिय निर्वैयक्तिक इच्छा से सूर्यो की माला को गूँथा है। उसीने तुम्हें मेरी वाणी में स्वयं अपने-आपको सुनने के लिये आज यहां ला बिठाया है। हे प्राचीन योग के बालक, ऊपर देखो, और कांपनेवाले और संदेह करनेवाले न बने रहो; डरो मत, शंका मत करो, दुःख मत करो क्योंकि तुम्हारे प्रतीयमान शरीर में वह विद्यमान है जो एक ही सांस में सृष्टि का सृजन और विनाश कर सकता है।

हां, वह इस सबके अंदर आध्यात्मिक शक्ति के असीम सागर की तरह से है क्योंकि अगर वह न होता तो न तो यह बाह्य तुम और न यह बाह्य मैं, न ये सूर्य और न ये सब लोक एक लव निमेष भी रह पाते। लेकिन वह इस सबके बाहर भी है। अपनी अभिव्यक्ति में भी वह उसका अति-क्रमण करता हुआ उसके बाहर भी है—अत्यतिष्ठददशाङ्गुलम्। अपनी अनभिव्यक्ति में वह उससे एकदम पृथक् है। दूसरे सत्य की अपेक्षा इस सत्य को ग्रहण करना अधिक कठिन है परंतु उसे ग्रहण करना है जरूरी। एक प्रकार का सर्वेश्वरवाद है जो विश्व को भगवान् के रूप में देखता है, भगवान् को विश्व के रूप में नहीं। लेकिन अगर विश्व भगवान् है तो क्या भगवान् जड़-भौतिक, विभाज्य, परिवर्तनशील, वस्तुओं के केवल ज्वार और भाटा हैं; लेकिन ये सब अपने-आपमें भगवान् नहीं हैं बल्कि अपनी छाया में या आभास में भगवान् हैं। अपने पुराने रूपक को दोहराएं तो वे शेक्सपीयर के मन की छायाएं और कल्पनाएं हैं। शेक्सपीयर अपने सारे नाट्य जगत् से अधिक विशाल ही नहीं है, उसके भीतर और उसके बाहर ही नहीं है बल्कि उससे अलग और उससे भिन्न भी है।

शिष्य—क्या आपका मतलब यह है कि ये उसके मन से निःसृत पदार्थ हैं ?

गुरु—मेरा मतलब यह नहीं है। "निःसृत पदार्थ" एक मूर्खतापूर्ण शब्द है और मूर्खतापूर्ण भाव है। भगवान् कोई ऐसा पदार्थ नहीं हैं जिसमें से भाप निकलती रहती है। अगर तुम भगवान् में से निःसृत हो तो मेहरबानी करके यह बतलाओ कि वे निःसृत होकर गये कहां हैं, उनका इलाका कहां है और

कहां है उनका निवास ? तुम किसी ऐसी जगह नहीं जा सकते जहां तुम भगवान् के बाहर होओ, तुम अपनी आत्मा के बाहर नहीं जा सकते। चाहे तुम देश के दूरस्थ बिंदुतक भाग जाओ, भगवान् वहां भी हैं। क्या हेमलेट तथा दूसरे पात्र शेक्सपीयर के मन से निःसृत हैं ? क्या तुम मुझे बतलाओगे कि वे निःसृत होकर गये कहां ? क्या इन पृष्ठों में जो लुगदी की विकृतियां हैं, जो आज बनी और कल नष्ट हो जायेंगी ? क्या अंग्रेजी अक्षरों के उन संयोजनों में जिनसे ये पृष्ठ भरे पड़े हैं ? उन्हें किन्हीं और अक्षरों के संयोजनों में रख दो या किसी और भाषा में ऐसे आदमी को सुनाओ जो अक्षरों से परिचित नहीं है फिर भी हेमलेट उसके लिये जीवित-जाग्रत् होगा। क्या वह उन ध्वनियों में है जिन्हें अक्षर चित्रित करते हैं, ऐसी ध्वनियों में जो इस क्षण सुनायी देती और अगले क्षण विस्मृत हो जाती हैं ? लेकिन हेमलेट विस्मृत नहीं होता—वह सदा के लिये तुम्हारे मन में जीता है। तो क्या यह विस्मृत ध्वनियों द्वारा भौतिक मस्तिष्क पर बनाये गये संस्कारों में है ? नहीं, तुम्हारे अंदर निद्रा पुरुष, चाहे तुमने कभी हेमलेट पढ़ा या सुनातक न हो, यदि पर्याप्त योग-प्रक्रिया से अथवा प्रबल सम्मोहन द्वारा मुक्त हुआ हो तो वह तुम्हें हेमलेट के बारे में बतलायेगा। शेक्सपीयर का नाटक-जगत् कभी शेक्सपीयर के मन से निःसृत नहीं हुआ क्योंकि वह उसके मन में था और मन में है और तुम हेमलेट के बारे में इसलिये जान सकते हो क्योंकि तुम्हारा मन उसी वैश्व मन का अंग है जिसका अंग शेक्सपीयर का मन था—मैं अंग शब्द का प्रयोग इसलिये कर रहा हूँ क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है, परंतु वास्तव में मन एक और अविभाज्य है। समस्त ज्ञान उसीका है, स्वभावतः निरंतर काल से निरंतर रूप में उसका है और जो ज्ञान हमें जाग्रत् अवस्था में वाणी, लेखन आदि वाहनों द्वारा प्राप्त होता है वह उसमें से बने या छोड़े हुए भाग या टुकड़े हैं और फिर भी वे उसी के अंदर हैं जैसे लोक ब्रह्म में से बने या बिखरे गये खंड हैं; जिस तरह वैश्व चेतना में से चुनी हुई और अलग की गयी चेतना है जो अलग होने के बावजूद हमेशा ब्रह्म के अंदर ही है। निःसृत होना एक ऐसा ही रूपक है जैसे श्रुति में मकड़ी और जाल के रूपक का व्यवहार होता है, जो कुछ बातों के लिये उपयोगी तो है पर

सत्य नहीं है, एक दर्शन खड़ा करने के लिये बहुत ही दुर्बल आधार है।

विश्व के अंदर और स्वयं अपने अंदर भगवान् को उपलब्ध करना सच्चा सर्वेश्वरवाद है और अज्ञेय को प्राप्त करने के लिये जरूरी कदम है, लेकिन विश्व को ही भगवान् समझ लेना भूल-भरा और उल्टा सर्वेश्वरवाद है। यह विलोम सर्वेश्वरवाद ऋग्वेद का बाहरी पक्ष है इसलिये ऋग्वेद उपनिषदों के विपरीत बंधन के सातत्य या ब्रह्मलोक की ओर ले जा सकता है जब कि उपनिषद् केवल ब्रह्मलोक या स्वयं ब्रह्मतक ले जाते हैं।

शिष्य—लेकिन आधुनिक पांडित्य हमें बतलाता है कि ऋग्वेद या तो एकैकदेववाद (एकसत्तावाद) या बहुदेववाद है, वास्तविक सर्वेश्वरवाद नहीं है।

गुरु—नहीं, अगर तुम अपने धर्म की व्याख्या ईसाइयों, नास्तिकों और अज्ञेयवादियों से मांगो तो इससे भी अधिक अद्भुत बातें सुनोगे। तुम चार्वाक की इस व्याख्या के बारे में क्या कहोगे कि वैदिक धर्म न तो सर्वेश्वरवादी है न बहुदेवतावादी बल्कि ब्राह्मणों का धनिकतंत्री अन्वेषण है? किसी बंद कमरे में आंधी जितनी आजादी से चल सकती है, कोई यूरोपीय या उसका शिष्य विद्वता में उससे ज्यादा आजादी के साथ वेदों के भाव में प्रवेश नहीं कर सकते। और विशेष रूप से विद्याडंबरी लोग तो शब्दों के परिचालन के परे कभी जा ही नहीं सकते। मेक्समूलर जैसे लोग थोड़ा-बहुत संस्कृत व्याकरण जानने के कारण यह मान लेते हैं कि वे हमें हमारे वेद और वेदांत के बारे में भाषण दे सकते हैं, लेकिन जब हम उनके पास प्रकाश के लिये जाते हैं तो देखते हैं कि वे तो मंदिर के प्रांगण की सीढ़ियों पर बैठे गोलियां खेल रहे हैं। उन्हें प्रवेशाधिकार प्राप्त नहीं था क्योंकि वे दर्प के भाव से यह सोचकर आये थे कि वे सीखने के लिये नहीं सिखाने के लिये आये हैं। अतः उनका शिक्षण सत्य की ओर नहीं केवल व्याकरण-मार्ग में सहायक था। दूसरे हैं जिन्होंने संस्कृत के प्रारंभिक ज्ञान से अनभिज्ञ होते हुए भी इन लोगों की अपेक्षा ज्यादा गहराई में देखा है—यद्यपि इनमें कुछ ने जितना देखना था उससे ज्यादा ही देख लिया, क्योंकि आखिर यह हेनोथीज़्म (एकसत्तावाद) क्या बला है, भूल पर आधारित पंडितारूपन से

कुजात पर नया शब्द क्या है ? अगर इसका मतलब यह है कि आर्यों के विभिन्न वर्ग विभिन्न देवों को सर्वोपरि देव मानते और अन्य देवों को मिथ्या या अपेक्षया मिथ्या देव मानते तो अनिवार्य रूप से विभिन्न संप्रदायों में उग्र संघर्ष और धर्म के बीच सतत युद्ध हुआ करते लेकिन ऐसा हुआ नहीं। लेकिन दूसरी ओर अगर इसका यह अर्थ हो कि भिन्न-भिन्न पूजा करनेवाले विश्व के स्वामी की पूजा अलग-अलग विशिष्ट रूपों में करना पसंद करते हैं तो क्या फिर भी हम एकैकाधिदेववादी होंगे ? हममें से ऐसा एक भी नहीं होगा जिसका अपना इष्टदेव न हो चाहे वह विष्णु, शिव, गणपति, मारुति, राम, कृष्ण, या शक्ति क्यों न हो; फिर भी हम उन सब रूपों के पीछे, जिन्हें हम पूजते हैं, विश्व के एक स्वामी को देखते हैं। और इसके अतिरिक्त अगर एक ही आदमी भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करे और बारी-बारी से हर एक को विश्व का स्वामी मान ले तो यह शुद्ध रूप से बहुदेवतावाद होगा। और वस्तुतः वैदिक धर्म का यही बाहरी प्रत्यक्ष रूप था। लेकिन जब वेदों के द्रष्टा यज्ञ की वेदी को छोड़कर ध्यान में बैठते थे तो वे देखते थे कि ब्रह्म न तो विश्वदेव और न विश्वदेवों का समन्वय है, बल्कि उनसे कुछ भिन्न ही चीज है। तब उन्हें वह अंतःप्रकाश प्राप्त हुआ जो उपनिषद् में दिया गया है; ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्। यह कहने का यही मतलब है कि ब्रह्म इस सबके बाहर है। वह न तो प्रकृति का समन्वय है न कोई ऐसी चीज है जिसे विश्व अपने भीतर समाये हुए है, वह स्वयं विश्व को समाये हुए है, जो स्वयं उसके अपने मन में, उसके अपने मन की छाया है।

शिष्य—मैं समझ गया।

गुरु—अगर तुम सचमुच समझ गये तो क्या तुम श्रुति के अगले कदम के लिये तैयार हो जिसे वह ब्रह्म के ऐक्य से प्राप्त करती है, जो किसी भी धर्म में पाया जानेवाला उदात्ततम नैतिक सिद्धांत है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

श्रुति एक ऐसे आदमी को एक अमोघ मार्गदर्शक, एक निश्चित सहारा और पूर्ण आदर्श प्रदान करती है जो अपने-आपको ऐसे विरोधाभासों के बीच में पाता है जिन्हें उसके अंदर स्थित आत्मा की दोहरी प्रकृति ने रचा है—एक वह शक्ति जो जानती है, दूसरी वह शक्ति जो न जानने का खेल करती है।

सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के अंदर देख। अगर तेरा मन धोखा दे, अगर तेरे आवरणों की वेदना अब भी तेरे भीतर की अमर आत्मा को छिपाये तो आंसुओं को छिड़क डाल, हां वे खुद रक्त के आंसू क्यों न हों, उन्हें अपनी आंखों से पोंछ डाल और विश्व पर नजर डाल। वहां तेरी अपनी आत्मा है जो ब्रह्म है, और ये सभी चीजें—तेरा अपना स्व, तेरा सुख, तेरा दुःख, तेरे मित्र और तेरे शत्रु—“उसके” अंदर हैं, तत्र कः मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः। हां, सब पुत्र-कलत्र, मित्र, शत्रु, सुख-दुःख, विजय, पराजय, सुंदरता और कुरूपता, सजीवता और निर्जीवता—ये सभी एकमात्र चेतना की तरंगें हैं और वह चेतना हमारी अपनी है। अगर तुम उसके बारे में सोचने बैठो तो तुम्हारे न मित्र हैं न शत्रु, हर्ष है न शोक, जो भी है तुम्हारे अपने बनाये हुए हैं। वैज्ञानिक तुम्हें बतलाते हैं कि अपने परिवेश के साथ किसी विशेष तरीके से अनुकूलन करने की इच्छा के कारण ही एक जाति अपने-आपको दूसरी जाति से अलग कर लेती है, लेकिन यह तो वैश्व सिद्धांत का एक प्रयोग है। इच्छा-शक्ति ही सब चीजों की जड़ है। तुम पुत्र-कलत्र, शत्रु, मित्रों के लिये इच्छा करते हो और वे उठ खड़े होते हैं। तुम रोगी और दुःखी होना चाहते हो तो दुःख और रोग तुम्हें पकड़ लेते हैं। तुम बलवान् और सुंदर और सुखी होना चाहते हो और सारा संसार तुम्हारी कांति से चमक उठता है। यह समस्त विश्व उस एकमात्र वैश्व इच्छा का परिणाम है जिसने अपने अंदर बहु की सृष्टि करने का निश्चय करके अपने-आपको इन सब रूपों में रच लिया है जिन्हें तुम उसमें देखते हो।

शिष्य—इस विचार को पकड़ना बहुत कठिन है, यह बहुत विस्तृत और बहुत सूक्ष्म है।

गुरु—क्योंकि तुम्हारे शरीर में अविद्या, भेद-भाव ही स्वाभाविक स्थिति है। जरा सोचो। यह शरीर जीव-द्रव्य के अपने-आपको विभाजित करने से

नहीं, बढ़ाने से बना है क्योंकि विभाजन से वह बढ़ नहीं सकता था। वह अपने अंदर से और एक अपने-आपको पैदा करता है, जो आकार-प्रकार, स्वभाव और रंग-रूप में एक ही होता है और इस तरह वह एक ऐसे शरीर का निर्माण करता है जो स्वयं वही होता है, जिसे स्वयं उसीसे गुणा किया गया हो। यह एक अपूर्ण उदाहरण है जो समझने में तुम्हारी सहायता कर सकता है।

शिष्य—वह अपने अंदर नहीं, अपने बाहर गुणा करता है, जैसे एक नर और नारी अपने बाहर एक पुत्र का सृजन करते हैं।

गुरु—तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि वह देश और काल में कार्य कर रहा है—यह भी उसी तरह जैसे तुम्हें बहुत-सी जीवात्माएं दिखायी देती हैं जो एक-दूसरे के बाहर होती हैं जब कि गहरा ज्ञान तुम्हें बतलाता है कि जीवात्मा एक ही है या जैसे तुम कल्पना करते हो कि एक मनुष्य में दो पृथक् चेतनाएं होती हैं जब कि ज्यादा चतुर सम्मोहन तुम्हें दिखलाता है कि एक ही चेतना है जो अपने ही अंदर अलग-अलग तरह से काम कर रही है। एक अर्थ में हमें ऐसा लगता है कि जैव द्रव की तरह एकमेव भी अपना गुणन करता रहता है क्योंकि एकमेव जीवात्मा सब में समान है, इसीलिये सभी सत्ताओं में चेतना का आधारभूत साम्य है। एक अर्थ में ऐसा लगता है कि मानव चेतना की तरह वह भी अपने-आपको विभक्त करता है क्योंकि वह इकाई है और बाकी सब उस व्यापक इकाई की आंशिक अभिव्यक्तियां हैं। और फिर ऐसा लगता है कि वह अपने ही टुकड़ों को एक साथ जोड़ता है, क्योंकि तुम—यानी वह चेतना जो “तत्” है—अपने-आपको अपनी पत्नी के साथ जोड़ते हो, जो “वही” है, और एक बन जाते हो, और यह प्रक्रिया तबतक चलती रहती है जबतक व्यष्टि—अंशों में विश्लेषण—में से समष्टि या सबका समन्वय न पैदा हो जाये और अंत में ऐसा लगता है कि वह अपने-आपको अपने अंदर से घटाता है, क्योंकि जैसा मैं तुमसे कह चुका हूं, सृष्टि में हर चरण बृहत्तर सत्ता में से भागों को अलग करना और बिखेरना है। फिर भी ये सब रूप और आभास हैं और वह जो कुछ करता है वह उसके अपने अंदर ही होना चाहिये, क्योंकि उसके

पास यह करने के लिये और कोई जगह ही नहीं है, क्योंकि वह स्वयं समस्त देश और समस्त काल है। अतः इस बात को अनुभव करो कि ये सब जो तुम्हारे चारों ओर हैं, पुत्र-कलत्र, मित्र, शत्रु, मनुष्य, पशु, निर्जीव और सजीव चीजें स्वयं तुम्हारे अंदर, वैश्व मन में, रंगमंच पर अभिनेताओं की तरह हैं जो केवल नाटक की सुविधा के लिये, आभास के लिये तुमसे बाहर दिखलायी देते हैं। अगर तुम इसे अनुभव कर लो तो किसी पर नाराज न होओगे, इस कारण तुम किसी से घृणा न करोगे और किसी को चोट पहुंचाने की कोशिश न करोगे। क्योंकि तुम किसी से नाराज हो ही कैसे सकते हो; अगर तुम्हारे शत्रु तुम्हें कष्ट पहुंचाते हैं तो स्वयं तुम अपने-आपको कष्ट पहुंचा रहे होगे, वे जो कुछ भी हैं, स्वयं तुमने उन्हें वह बनाया है; वे जो कुछ करते हैं, तुम ही उनकी क्रिया की जड़ हो। तुम भी उन्हें कष्ट नहीं दे सकते क्योंकि इससे तुम अपने सिवा किसी और को कष्ट न दे रहे होगे। यदि शेक्सपीयर औथेलो को कष्ट देने के लिये इयागो से घृणा नहीं कर सकता तो उसी तरह तुम भी उनसे घृणा क्यों करो और उन्हें कष्ट क्यों पहुंचाओ? क्या तुम सोचते हो कि शेक्सपीयर ने जब सफल दुष्ट इयागो को मृत्यु और यंत्रणा की दंडाज्ञा दी तो वह उसके (इयागो के) भावों का साथी था? अगर शेक्सपीयर ने इयागो से घृणा की तो तुम झट कह दोगे कि यह शेक्सपीयर की अविद्या थी क्योंकि स्वयं शेक्सपीयर ने ही तो औथेलो पर चोट करने के लिये इयागो की रचना की थी, क्योंकि सचमुच न तो कोई इयागो है न औथेलो, है केवल शेक्सपीयर जो स्वयं अपने अंदर अपनी रचना कर रहा है। तब फिर तुम शेक्सपीयर के अपनी रचना के साथ घृणा करने की अपेक्षा स्वयं अपने बनाये हुए शत्रुओं के साथ अपनी घृणा को कैसे अधिक युक्तिसंगत बतला सकते हो। नहीं, जब सभी चीजें तुम्हारे अंदर हैं, तुम्हारी अपनी रचनाएं हैं, तुम स्वयं हो तब तुम अपनी रचना से विरक्त नहीं हो सकते, अपने-आप से घृणा नहीं कर सकते। घृणा और विद्वेष अविद्या के, अज्ञान के बालक हैं। यह नैतिकता का नकारात्मक पक्ष है; लेकिन एक सकारात्मक पक्ष भी है। श्रुति आगे चलकर उसीकी नींव रखने की तैयारी करती है। अवास्तविकताओं से अपने-आपको खींच लेने

के लिये सभी प्राणियों को आत्मा में देखना चाहिये लेकिन अगर तुम केवल इतना ही करो तो बड़ी जल्दी तुम समस्त कर्म के निर्वाण पर जा पहुंचोगे और एक अपूर्ण नाटक का परदा गिरा दोगे, लेकिन नाटक को उचित समय पर अपने निष्कासनतक जारी रखने के लिये तुम्हें अपने-आपको भी सब प्राणियों में देखना चाहिये। विद्या की स्थिति में आत्मा का स्वभाव है आनंद; विद्या की स्थिति आत्म-सिद्धि की स्थिति है, एकत्व की और सार्वभौमिकता की उपलब्धि है। अविद्या की स्थिति में आत्मा का स्वभाव, विभिन्नता और सीमांकन का मिथ्या भाव, शुद्ध आनंद की अवस्था न होकर सुख-दुःख की अवस्था है, क्योंकि सुख आनंद से भिन्न है, वह सीमित होता है और उसमें दुःख भी मिला होता है जब कि आनंद का स्वभाव असीम और द्वित से ऊपर होता है। जब स्वयं दुःख सुख बन जाता है, सुख के अंदर निगल लिया जाता है तब आनंद का जन्म होता है। अतः हर वह चीज जो भले आंशिक रूप से ही सही भेद-भाव को दूर करती और चरम ऐक्य की ओर जाने में सहायक होती है, अपने साथ, दुःख की आंशिक विस्मृति के साथ आनंद का स्पर्श लाती है। और जो चीज तुम्हारे लिये आनंद लाती है उसमें तुम भाव-विभोर होकर मगन हुए बिना नहीं रह सकते, उससे प्रेम किये बिना नहीं रह सकते। अगर तुम किसी दूसरे में अपने-आपको देखते हो तो तुम सहज स्वाभाविक रूप से उसके साथ प्रेम करने लगते हो क्योंकि तुम्हें अपने अंदर सुख प्राप्त होता ही है, अगर तुम अपने-आपको सभी प्राणियों में देखते हो तो तुम सभी प्राणियों के साथ प्रेम किये बिना नहीं रह सकते। बहु में एक की अनुभूति का अनिवार्य परिणाम है वैश्व प्रेम और वैश्व प्रेम के साथ भला घृणा, जुगुप्सा, नफरत आदि का लेशमात्र भी कैसे रह सकता है ? ये चीजें उसके अंदर उसी तरह घुल जाती हैं जैसे उदय होते हुए सूर्य की ज्योति में रात का कुहरा। इसे एक और तरह से लो तो हम एकमेव सत्य के एक और नये पक्ष को देख पायेंगे। सारी घृणा और जुगुप्सा एक ही कारण से आती है और वह है अविद्या, जिससे उत्पन्न होती है इच्छा जिसे कामना कहते हैं, जिससे अहंकार उत्पन्न होता है, जिससे क्षुधा नामक कामना उत्पन्न होती है, कामना-क्षुधा से पसंद और नापसंद पैदा होती है, जो

कुछ हमारी कामना में सहायता देता है या उसे संतुष्ट करता है उसके लिये पसंद और जो कुछ कामना की तुष्टि में बाधा देता या उसे कम करता है उसके लिये नापसंद। इस प्रकार पैदा हुई यह पसंद जीव-द्रव के कोष की हर उस चीज के लिये पसंद की तरह है जो उसे ऐंद्रिय तुष्टि दे, प्राणमय कोष की उस पसंद की तरह है जो उसे भावात्मक तुष्टि दे, मनोमय कोष की उस पसंद की तरह है जो उसे सौंदर्य-बोधात्मक तुष्टि दे, ज्ञानमय कोष की उस पसंद की तरह है जो उसे बौद्धिक तुष्टि दे। लेकिन इनके परे भी कुछ ऐसी चीज है जो इतनी आसानी से समझ में नहीं आती, एक नारी के सुंदर शरीर के लिये, एक सुंदर चित्र या प्रीतिकर साथी, उत्तेजक नाटक, चतुर वक्ता, अच्छी कविता, प्रकाशमय और सुविवेचित तर्क के अतिरिक्त किसी के लिये मेरी ऐसी पसंद भी हो सकती है जिसका कोई औचित्य या प्रत्यक्ष कारण नहीं होता। अगर ऐंद्रिय तुष्टि ही सब कुछ होती तो स्पष्ट है कि इसका कोई कारण न होता कि मैं एक नारी की अपेक्षा दूसरी नारी को ज्यादा पसंद करता और पाशविक परितोष के बाद पसंद समाप्त हो जानी चाहिये थी; मैंने देखा है कि इस पाशविक आवेग को प्रेम का नाम दिया जाता है, शायद जब मेरे अंदर जैव द्रववाला पशु प्रधान था तो मैं स्वयं उसे यही नाम देता था। अगर भावात्मक तुष्टि ही सब कुछ होती तो मैं कुछ समयतक उस नारी के साथ चिपका रहता जो मेरे शरीर को सुख देती थी लेकिन यह तभीतक जबतक वह आज्ञापालन, मेरी पसंद और नापसंद के साथ सहानुभूति द्वारा, अपनी सुखद वाणी, अपने समादर या प्रत्युत्तर देनेवाले प्रेम द्वारा भावात्मक सुख देती लेकिन इनके बंद होने के साथ-ही-साथ मेरी पसंद भी मंद पड़ने लगती। इस तरह की पसंद को भी वही महान् नाम दिया जाता है और काव्य तथा रोमांस में उसका गुणगान किया जाता है। और यदि सौंदर्यात्मक परितोष ही सब कुछ होता तो एक बहुत सुंदर या मोहक नारी के लिये मेरी पसंद भावात्मक तुष्टि के खतम हो जाने बाद भी बनी रहती लेकिन जब उसके चेहरे पर अवस्था की लिपि झुर्रियों द्वारा प्रकट होने लगती या कोई दुर्घटना उसके सौंदर्य को बिगाड़ देती तो मेरी पसंद भी मंद पड़ जाती या गायब हो जाती क्योंकि कार्य के लिये वर्तमान कारण का

पोषण न रह जाता। नारी के लिये पुरुष के प्रेम में बौद्धिक तुष्टि कभी-कदास ही आती है और अगर आ भी जाये तो बहुधा बौद्धिक तुष्टि एक ही मन से प्राप्त होती है और दिन भर और रात भर के संग के कारण बहुत जल्दी समाप्त हो जाती है। तब फिर वह प्रेम कहां से आता है जो जीवन से अधिक महान् और मृत्यु से अधिक बलवान् है, जो सौंदर्य और मोहकता के चले जाने पर भी बना रहता है, जो प्रेम-पात्र के दिये गये अधिकतम कष्ट और तिरस्कार को चुनौती दे सकता है, जो बहुधा महान् और उच्च बुद्धि से अनंतगुनी नीची बुद्धि पर उतरता है? नारी का वह प्रेम क्या है जिसे कोई चीज मात नहीं दे सकती, जो अवज्ञा पर जीता और तिरस्कार और क्रूरता पर पनपता है, जिसकी ज्वालाएं चिता की लाल लपटों से ऊंची उठती हैं, जो स्वर्गतक तुम्हारे पीछे जाता है या नरक में से तुम्हें खींच लाता है? यह न कहो कि ऐसे प्रेम का अस्तित्व ही नहीं है और जो कुछ है वह क्षुधा, दर्प, स्वार्थ और स्वार्थ-भरे सुख पर आधारित है, कि राम और सीता, रुरु और सावित्री केवल स्वप्न और कल्पनाएं हैं। मानव प्रकृति, जो अपनी दिव्यता के बारे में सचेतन होती है, वह इस अपमान को तिरस्कार के साथ वापिस फेंक देती है—कविता इसे आशीर्वाद देती और इतिहास इसके निर्णय की पुष्टि करता है। वह प्रेम इसके सिवा कुछ नहीं है कि आत्मा आत्मा को मंद अथवा स्पष्ट रूप में पहचानने और एकत्व तथा एकत्व के आनंद को अनुभव करने का प्रयास करे। और फिर मित्र क्या है? निश्चय ही मैं अपने मित्र में शारीरिक सुख की खोज नहीं करता, न मैं उसे सुंदर सूरत-शकल के लिये चुनता हूं, न उससे समान रुचि या लक्ष्य की मांग करता हूं, जिसे मैं सामान्य साथी में चाहूंगा। मैं उससे इसलिये भी प्रेम नहीं करता क्योंकि वह मुझसे प्रेम करता या मेरी प्रशंसा करता है जैसा शायद मैं अपने विद्यार्थी से करूंगा और न ही मैं आवश्यक रूप से उससे एक चतुर मस्तिष्क की मांग करूंगा मानों वह केवल एक बौद्धिक सहायक या अध्यापक हो। ये सब भावनाएं रहती हैं लेकिन वे मैत्री की आत्मा नहीं हैं। नहीं, मैं अपने मित्र से नारी जिस कारण प्रेम करती उसी कारण से प्रेम करता हूं, क्योंकि मैं उससे प्रेम करता हूं, क्योंकि पुरानी अमर सूक्ति के

अनुसार वह मेरी “दूसरी आत्मा” है। पुराने रोमनों ने अंतर्भास द्वारा प्रेम के चरम रहस्य पर उंगली रखी थी। प्रेम है आत्मा का मन या शरीर में स्थित मिथ्या पुरुष से मुंह मोड़कर दूसरे में अपनी सच्ची आत्मा की ओर मुड़ना। मैं उससे प्रेम करता हूँ क्योंकि मैंने उसके अंदर स्वयं अपनी आत्मा को पा लिया है, अपना शरीर या मन, अपनी रुचियाँ और भावनाएँ नहीं बल्कि प्रेम और आनंद की मेरी अपनी आत्मा को जिसके बाह्य पक्ष के बारे में श्रुति ने सुंदर ढंग से कहा है, “प्रेम उसका दक्षिण पक्ष है” आदि। देश-प्रेमी के बारे में यही बात है, उसने अपनी आत्मा को अपने राष्ट्र में देखा है और वह अपने निम्नतर स्व को उच्चतर राष्ट्रीय आत्मा में खो देना चाहता है। चूँकि वह ऐसा कर सकता है इसलिये हम मेजिनी, गेरीबाल्डी, जॉन ऑफ आर्क, वाशिंगटन, प्रताप सिंह, शिवाजी आदि को पाते हैं। निम्नतर जड़-भौतिक पुरुष हमें ये सब न दे सकता। तुम ऐसे लोगों को उपयोगिता के कारखानों में, चार्वाक की भट्टी में नहीं बना सकते और न एपीक्यूरस की वाटिका में उगा सकते हो, मानवता के प्रेमी के लिये भी यही बात है जो अपनी निम्नतर सत्ता को मानवजाति में खो देता या खो देना चाहता है, कोई प्रबुद्ध स्वार्थ हमें फादर दामिएन (एक पादरी जिन्होंने अपना जीवन कोढ़ियों की सेवा में लगा दिया था) या ईसा मसीह या फ्लोरेंस नाइटिंगेल न दे पाता। और अंततः समस्त जगत् के प्रेमी के साथ भी यही बात है, उसका महान् प्ररूप हैं बुद्ध—मनुष्य के अंदर दिव्य प्रेम का एक और अद्वितीय आदर्श—जिन्होंने पूर्ण दिव्य आनंद से उसी तरह मुंह मोड़ लिया जैसे पूर्ण मानव आनंद से मुंह मोड़ा था ताकि वे अकेले नहीं बल्कि सभी प्रकृतियाँ त्राण पा सकें।

अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखना समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा में देखना समस्त धर्म, प्रेम, देश-प्रेम, लोकोपकार, मानवजाति और उन सभी चीजों का आधार है जो स्वार्थ और स्थूल उपयोगिता से ऊपर उठती हैं। क्योंकि स्वार्थ क्या है? स्वार्थ है भूल से अपनी सच्ची आत्मा के—जो समस्त विश्व और विश्व से भी बढ़कर है—अकलुष आनंद के स्थान पर शरीर और प्राणिक आवेगों को अपनी सच्ची आत्मा मान लेना और उनका परितोष, उनका स्थूल, संकीर्ण और अस्थायी सुख खोजना।

स्वार्थ अविद्या से, महान् आधारभूत अज्ञान से उत्पन्न होता है जो अहंकार को पैदा करता है, यह तुम्हारे व्यक्तिगत अस्तित्व के भाव की अपने ही व्यक्तिगत अस्तित्व में तल्लीनता है जो एक साथ कामना और क्षुधा की ओर ले जाती है जो मृत्यु है, तुम्हारी अपनी मृत्यु तथा अन्यो की मृत्यु। यह भाव कि यह मैं हूँ और वह तुम, मुझे यह या वह ले लेना चाहिये अन्यथा तुम उसे ले लो, यही समस्त स्वार्थ का आधार है। यह भाव कि जीवित रहने के लिये या खाये जाने से बचने के लिये इस अहं को चाहिये कि उस त्वं को खा ले, यही जड़ जीवन का आधार है जिसमें से संघर्ष और घृणा पैदा होते हैं। और जबतक मैं और तू का फर्क बना रहेगा, घृणा का अंत नहीं आ सकता, लोभ का अंत नहीं आ सकता, युद्ध का अंत नहीं आ सकता, अशुभ और पाप का अंत नहीं आ सकता और चूंकि पाप का अंत नहीं आ सकता इसलिये दुःख-दैन्य का अंत भी नहीं आ सकता। यह ऐसी शाश्वत माया है जो पृथ्वी पर जड़-भौतिक स्वर्ग की सभी भौतिक योजनाओं को व्यर्थ बना देती है, स्वर्ग का निर्माण भोजन और पेय के आधार पर, वस्तुओं के समान वितरण या वस्तुओं पर समान अधिकार के आधार पर नहीं होता क्योंकि सदा मेरा और तेरा, लोभ, घृणा अगर इस व्यक्ति और उस व्यक्ति के बीच न हों फिर भी इस जाति और उस जाति के बीच बार-बार आते रहेंगे। ईसाइयत आशा करती है कि वह मनुष्यों को एक सुखी परिवार की तरह भाई-भाई बनकर रहना सिखायेगी जिसमें सब एक-दूसरे से प्यार करेंगे और सबकी सहायता करेंगे। शायद उसे अब भी यह आशा है, यद्यपि आज के आधुनिक जगत् में ऐसा कुछ नहीं है जो उसके सपनों को संतुष्ट करता हो। लेकिन वह स्वर्ण युग भी न आयेगा, चाहे ईसा अपने सभी फरिश्तों के साथ उतर आये और गांठ को काट दें, मनुष्य-जाति की बहुत बड़ी संख्या को बाहरी अंधकार में देश-निकाला दे दें जहां रोना-धोना और दांत किटकिटाना ही होता है और शुद्ध तथा निष्ठावान् बची-खुची मानवजाति से एकीकृत मानवजाति के परिवार की स्थापना कर सकें। यह रुग्ण कल्पना का कैसा पागल स्वप्न है कि मनुष्य वास्तव में हमेशा के लिये

सुखी रह सकते हैं जब कि मानवजाति हमेशा दुःखी और पीड़ित रहती आयी है ! और बौद्ध धर्म की हल्की-सी मधुर और ललित छाया को भूमध्य-सागर की उग्र जातियों के अंधेरे और क्रूर मनों में किस तरह विकृत किया गया जब उन्होंने संतों का ऐसा चित्र आंका कि वे उन शाश्वत यातनाओं के ध्यान से अतिरिक्त आनंद पा रहे थे जिनमें ऐसे लोग तड़प रहे थे जिनके साथ वे रहते थे और शायद जिनसे वे प्यार भी करते थे। भारत ने ईसामसीह के अधरों से बुद्ध की प्रकृति, दिव्य प्रेम और दिव्य दया-माया का संदेश भेजा और यूरोपीय मानस ने दिव्य प्रेम और दिव्य दया की व्याख्या इस तरह की ! स्मिथफील्ड की अग्रियां, आंटो द फे—धर्माधिकरण की दंडाज्ञा—की चमकती लपटें, ईसाई धर्म की अदालतों के अंध कूपों के इतिहास से भाप की तरह निकलनेवाले संताप का अवर्णनीय धुआ—हां, ऐसे बुद्धिमान लोग हैं जो इन पवित्र यातनाओं के लिये भी समर्थन खोज निकालते हैं—आखिर यह विनाशशील शरीर के बदले आत्मा की रक्षा करनेवाला भागवत प्रेम था ! लेकिन पूर्व की आर्य भावना, बुद्ध की भावना यूरोप की बर्बर भावना के साथ सतत संघर्षरत रहती है और अंत में निश्चय ही विजय पायेगी। अभी से ही यूरोप अपने मन के प्रवेश-द्वार पर मानवजाति को अपनी जीभ से श्रद्धांजलि दे रहा है, शायद किसी दिन वह अपने हृदय से भी श्रद्धांजलि दे। बहरहाल, टेरट्यूलिएन (ईसाई पादरीवाद) का युग पुराना हो गया है फिर भी सर्वोत्तम यूरोपीय विचार पर स्वयं सत्य का नहीं, ईसाई आदर्श का, सत्य के सीरियाई भाष्य का बोल-बाला है और ईसाई आदर्श है संयुक्त परिवार का आदर्श।

शिष्य—निश्चय ही यह एक उदात्त आदर्श है।

गुरु—बहुत उदात्त, हमारे यहां भी यह “वसुधैव कुटुम्बकम्” के प्रसिद्ध श्लोक में आसीन है। लेकिन हर वह चीज जो भिन्नता का संकेत देती है वह अविद्या पर आधारित और अविद्या का अनिवार्य फल है। क्या तुमने बंगाल का कोई बड़ा संयुक्त परिवार देखा है, विशेष रूप से तब जब उसमें से आर्य अनुशासन मिट चुका हो ? उसके बाहरी बल और एकता के बाहरी आभास के पीछे कैसा कर्ण-कटु संघर्ष, कैसे मन-मुटाव, कैसे तुच्छ विद्वेष

और घृणा, कैसी डाह और कैसी लोलुपता होती है ! और अंत में एक दिन धमाका, लड़ाई झगड़ा, अदालतों में मुकद्दमे और सदा के लिये विच्छेद। छोटे पैमाने पर सम्मिलित परिवार जो कुछ है वही एक बड़े पैमाने पर संयुक्त देश या राष्ट्र है चाहे वह रूस, आस्ट्रिया, जर्मनी या इंग्लैंड हो। संयुक्त परिवार के रूप में मानवजाति का अर्थ होगा व्यावहारिक रूप में संयुक्त राष्ट्र के रूप में मानवजाति। उससे तुम्हें कितना लाभ होगा ? तुम युद्ध से पिंड छुड़ा सकोगे—कुछ समय के लिये—मनुष्यों द्वारा मानव शरीरों को क्षत-विक्षत होने से बचा सकोगे, लेकिन यद्यपि शरीर का ब्रह्म के चुने हुए बाह्य या उनके प्रिय परिधान के रूप में मान करना चाहिये फिर भी वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। तुम घृणा, लोभ और संघर्ष द्वारा मानव आत्मा को और भी अधिक क्षत-विक्षत होने से न रोक सकोगे। यूरोपीय लोग शरीर को बहुत अधिक महत्व देते हैं, वे शारीरिक पाप से बहुत अधिक सकुचाते हैं परंतु मानसिक पाप में पूरी तरह आराम का अनुभव करते हैं। उनके लिये यह काफी है कि नारी अपनी कामना-वासना को क्रियान्वित करने से बचे, पुरुष शारीरिक हिंसा से दूर रहे, ऐसी स्थिति में वह सती साध्वी और पुरुष आत्म-संयत है। यह अगर शुद्ध रूप से अनार्य या म्लेच्छवाद नहीं है तो भी अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में तुम लोगों के लिये अर्द्ध-आर्यत्व है जो आर्य शिक्षण में पैदा हुए हो, वह लंबी दासता के कारण चाहे जितना विकृत क्यों न हो गया हो, तुम वस्तुतः मन और भाव में शुद्ध आर्य हो, केवल वाणी और शरीर के बारे में सावधान नहीं, केवल शब्दों और क्रियाओं में शालीन नहीं बल्कि हृदय और विचार में भी सौम्य हो। यह सच्चा आत्म-संयम है और यही है वास्तविक नैतिकता। जबतक पाप करनेवाले और नरक की रचना करनेवाले पर विजय न पा ली जाये तबतक किसी स्वर्ग का अस्तित्व नहीं रह सकता और अगर कोई स्वर्ग रहा भी हो तो वह स्थायी नहीं रह सकता। हो सकता है कि धरती पर कभी स्वर्ग न आये और अगर कभी आये भी तो वह तब तो न आयेगा जब सारी मानवजाति भाई-भाई बन जाये क्योंकि भाई उसी तरह टकराते और झगड़ते हैं जैसे मित्र या अजनबी लड़ते-झगड़ते हैं बल्कि उससे भी बढ़कर।

लेकिन यह तभी हो सकता है जब सारी मानव-जाति अनुभव कर ले कि समस्त सत्ता उसका अपना स्व है। यदि संयुक्त मानव-जाति पक्षी, पशु और जीव-जंतुओं पर अत्याचार करे तो निचले प्राणियों के श्वास से निकलनेवाली पीड़ा, घृणा और भय का वातावरण उच्चतर प्राणियों की शुद्धि को उत्पीड़ित और भ्रष्ट करेगा। कर्म का विधान अपरिहार्य है और तुम औरों के साथ जैसा व्यवहार करोगे वैसा ही असर तुम्हारे ऊपर होगा चाहे इस जन्म में हो या किसी और में। क्या तुम्हारा ख्याल है कि कभी सारी मानवजाति के साथ ऐसी विलक्षण घटना घटेगी कि वह कुत्ते और गिद्ध में ही नहीं, डसनेवाले सांप, डंक मारनेवाले बिच्छू में भी अपनी ही आत्मा को देख सके और मृत्यु को अपने भाई और विनाश को अपनी बहन के रूप में संबोधित कर सके; इतना ही नहीं, वे इन सबको अपने ही रूप में देख सकें—‘सर्वभूतेषु चात्मानम्’, श्रुति तुम्हें तुच्छतम रेंगनेवाले जंतु या छटपटाते हुए गंदे-से-गंदे कीड़ों को भी न छोड़ने देगी।

शिष्य—यह तो संभव नहीं मालूम होता।

गुरु—मालूम तो नहीं होता; फिर भी बहुत-सी असंभव चीजें बार-बार होती हैं। फिर भी, यदि तुम्हें उस दूरस्थ विषय का आदर्श रखना है जिसकी ओर मानव-जाति गति कर रही है तो उसे हृदय में बनाये रखो। उन सभी राम-राज्य की कल्पनाओं पर अविश्वास करो जो पाप को नष्ट करना या उस माटी के एक अंश को खरोच डालना चाहती हैं जिसमें वह उगता है, जब कि पाप की जड़ यानी अहंकार को सुरक्षित बनाये रखना चाहती हैं जो अज्ञान और कामना से उत्पन्न होता है। एक बार अहंकार आ जाये तो पसंद और नापसंद पैदा होती हैं, द्विविधता का मूल जोड़ा, रागद्वेष, पैदा होता है; उसके लिये पसंद जो कामना की तुष्टि को आगे बढ़ाता है और जो उसमें बाधा दे उसके लिये नापसंद, अधिकार का भाव, हानि का भाव, आकर्षण, विकर्षण, सम्मोहन, वितृष्णा, प्रेम, घृणा, दया, क्रूरता, कृपा, क्रोध—द्विविधता का अनंत और शाश्वत जुलूस। तुम इनमें से एक जोड़ी को आने दो तो उसके पीछे सभी टटोलते-लड़खड़ाते आ जायेंगे। लेकिन जो मनुष्य अपने-आपको सभी प्राणियों में देखता है, घृणा नहीं कर सकता, वह किसीसे

कतराता नहीं, उसमें न तो जुगुप्सा होती है न भय, “ततो न विजुगुप्सते” । वह उस ओर जो कोढ़ी है, जिससे सभी मनुष्य दूर रहते हैं—क्या मैं उससे दूर रहूंगा, मैं, जिसे मालूम है कि इस विचित्र वेश में से ब्रह्म मुस्कराती हुई आंखों से देख रहे हैं ? यह वैरी जो हाथ में तलवार लिये उसे मेरी छाती में भोंकने के लिये आ रहा है—मैं तेज डरावनी तलवार के परे देखता हूं, उसकी तनी भुकुटी और घृणा-भरी आंखों के परे देखता हूं तो अपनी ही आत्मा के मुखौटे को पाता हूं; इसके बाद मैं न तो तलवार से भय करूंगा न उसके वाहक से घृणा करूंगा । हे मेरे अपने स्व जो मूढ़तावश अपने-आपको मेरा शत्रु मानता है, जबतक मैं अपने-आप यह चुनाव न करूं, तू मेरा शत्रु हो ही कैसे सकता है; मित्र और शत्रु बस उस असंख्य कार्य करनेवाले जादूगर, उस महान् स्वप्नद्रष्टा और कलाकार मन की रचनाएं हैं और अगर मैं तुझे अपना शत्रु न मानने की इच्छा करूं तो तू स्वप्न या छाया से बढ़कर कुछ नहीं हो सकता, जैसे तेरी तमतमाती तलवार एक स्वप्न है और तनी हुई भौंहें एक छाया है । लेकिन तू अपनी तलवार से मुझे काट देगा, तू मुझे मार डालेगा, गोलियों से छेद देगा, आग की लपटों से तड़पायेगा, अपनी तोप के मुंह से उड़ा देगा ? मुझे तू नहीं छेद सकता क्योंकि मैं अकाट्य, अभेद्य, अविभाज्य, अदाह्य और अविचल हूं । तू मेरे इस परिधान को, मेरे पहने हुए इस अनेकानेक पतों के जैवद्रव से बने अन्नमय वेश को फाड़ सकता है—मैं वही रहूंगा जो पहले था । मैं तुझसे नाराज भी न होऊंगा । कोई एक बालक से कैसे नाराज हो सकता है क्योंकि उसने खेल-ही-खेल में या बचकाने गुस्से में उसका कपड़ा फाड़ दिया है ? लेकिन शायद मेरे लिये कपड़ा मूल्यवान् था और मैं इतनी आसानी से उससे अलग न होता । तब मैं उसे बचाने की कोशिश करूंगा और हो सकता है कि मैं क्रोध के बिना तुझे दंड देने की कोशिश करूं ताकि तू और कपड़े न फाड़े; लेकिन अगर मैं यह न कर सकूं तो आखिर वह एक कपड़ा ही तो था और जल्दी ही दुकान से नया कपड़ा मिल सकता है । क्या मैं पहले से ही पेशगी दाम नहीं दे चुका हूं ? हे मेरे न्यायाधीश, तू जो यह फैसला सुनाने के लिये बैठा है कि मुझे गले में फांसी लगाकर लटका दिया जाये

और तबतक लटकने दिया जाये जबतक मेरे प्राण न निकल जायें क्योंकि मैंने संयोग-वश तेरे विधानों को तोड़कर हजारों भूखों को रोटी दी, संयोगवश अपने देशवासियों की सहायता की जिन्हें तू अपनी खुशी के लिये दास बनाकर रखना चाहता था— क्या तू मुझे फांसी पर चढ़ा देगा ? जब तू आकाश से सूर्य को नहीं हिला सकता या व्योम को कपड़े की तरह लपेट नहीं सकता तो क्या तुझे मुझे फांसी पर लटकाने की शक्ति दी जायेगी ? तब फांसी के कारण जो मरेगा उसे तू क्या या कौन मानता है ? जंतुओं के एक गड्ढर से बढ़कर कुछ नहीं। ये बाहरी तू और मैं तो मंच के मुखौटों से बढ़कर कुछ नहीं हैं, उनके पीछे तो वह एकमेव है जो न तो मारता है और न मरता है। हे न्यायाधीश कहनेवाले मुखौटे, अपनी भूमिका अदा किये जा, मैं अपनी भूमिका पूरी कर चुका। हे प्राचीन योग के बालक, सभी चीजों में अपनी आत्मा का अनुभव कर, किसी चीज से भय न कर, किसी चीज से घृणा न कर, किसी चीज से आतंकित न हो, किसी चीज से जुगुप्सा न कर। अपनी भूमिका बल और साहस के साथ पूरी किये जा ताकि तू वही हो जो तू सचमुच है। भगवान् ही तेरी विजय हैं, भगवान् ही तेरी पराजय हैं, भगवान् ही तेरी मृत्यु और तेरा उत्पीड़न हैं—भगवान् जो कभी पराजित नहीं हो सकते, जो कभी मर नहीं सकते। क्या भगवान् किसीसे डरेंगे ? क्या वे निराश होंगे ? क्या वे कपिगे और थरथरायेंगे ? नहीं, तेरा शरीर और तेरा मस्तिष्क जिन कीटों से बना है वे कांपते और थरथराते हैं। उनके अंदर बैठा तू शांत-अचंचल आंखों से उनकी पीड़ा और उनके आतंक को देखता है क्योंकि वे छाया-मात्र हैं जो अपने-आपको वास्तविकता के स्वप्न-रूप में देखते हैं। सभी जीवों में आत्मा का अनुभव कर, सभी जीवों को आत्मा के अंदर अनुभव कर तब अंत में आतंक तेरे आतंक से भाग जायेगा, पीड़ा तुझे छू भी न पायेगी ताकि कहीं तेरे स्पर्श से वह स्वयं पीड़ित न हो उठे, मृत्यु इस डर से तेरे नजदीक न फटकेगी कि कहीं वह स्वयं न मार डाली जाये।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जो विवेकशील है, जिसमें सभी प्राणी आत्मा बन गये हैं, वह कैसे मोहग्रस्त हो सकता है, जिसकी आंखों में सभी चीजें एक हैं उसमें दुःख कहां से आयेगा ? यह महान् आदर्श की अनुभूति है, पूर्ण वेदांत का नैतिक और व्यावहारिक परिणाम है कि हमारे अंदर सभी चीजें हमारा अपना स्व बन जायेंगी। श्रुति कहती है कि जिस मनुष्य की आत्मा सर्व-जीव बन गयी है उसमें कौन-सा मोह या शोक रह सकता है, क्योंकि वह जहां कहीं देखता है “अनुपश्यतः”, वह महान् एकत्व के सिवा, भगवान् के सिवा, प्रेम और आनंद की अपनी आत्मा के सिवा कुछ नहीं देखता। मोह है आभास को वास्तविकता समझ लेने की भूल, माया की शक्ति से चकरा जाना। “यह मकान जो मेरे पुरखों का था, यह मेरा था पर खेद है कि मैंने इसे खो दिया।” “यह मेरी पत्नी थी जिससे मैं प्यार करता था और मैं इसे हमेशा के लिये खो बैठा।” “हाय, मैं जिस बेटे से इतनी आशाएं रखता था उसने मुझे कितना निराश कर दिया।” “यह पद जिसके लिये मैंने आशा की और योजनाएं बनायीं, उसे मेरे प्रतिस्पर्द्धी ने, जिससे मैं घृणा करता था, पा लिया।” ये सब मोह के उद्गार हैं और मोह का परिणाम होता है शोक। लेकिन जिसकी आत्मा सर्व-जीव बन गयी है उसे न मोह हो सकता है न शोक। वह यह नहीं कहता, “मुझ देवदत्त ने यह मकान खो दिया, कैसी मुसीबत है !” वह कहता है, “मुझ देवदत्त ने यह मकान खो दिया लेकिन वह गया है मुझ हरिश्चंद्र के पास, यह सौभाग्य की बात है।” मैं कुछ भी नहीं खो सकता, सब कुछ मेरे पास ही रहेगा। मैं अपनी मृत और खोयी हुई पत्नी के लिये विलाप न करूंगा, वह खोयी बिल्कुल नहीं है, आज भी मेरे उतने ही नजदीक है जितनी पहले थी क्योंकि वह अब भी मेरी आत्मा है, मेरी आत्मा में है, मृत्यु के बाद भी उतनी ही जितनी तब थी जब उसका शरीर मेरे हाथों के नीचे था। मैं अपनी आत्मा को नहीं खो सकता। मेरे बेटे ने मुझे निराश किया है ? उसने अपना मार्ग अपनाया है, मेरा नहीं, लेकिन उसने स्वयं अपने-आपको, अपनी आत्मा को निराश नहीं किया जो मेरी अपनी आत्मा है, उसने केवल कोष को, ढक्कन को, उस मानसिक कोषाणु को निराश किया है जिसमें मैं नजरबंद था। एकमेव आत्मा का दर्शन सभी

भेद-भावों को छिन्न-भिन्न कर देता है। उस शक्तिशाली अंतरात्मा का, जिसने भगवान् के दर्शन कर लिये हैं, स्वभाव ही है अनंत अचंचलता, अनंत प्रेम, अनंत उदारता और अनंत सहन-शक्ति। उसके मन को पाप, कलंक, रोग, जगत् की गंदगी मैला नहीं कर सकते और न ही उसकी सहानुभूति को विकर्षित कर सकते हैं जब वह पापी को गोबर के उस ढेर में से निकालने के लिये झुकता है जिसमें वह रेंगता है। वह उस कलंक से नहीं कतराता जो उसके अपने हाथों पर दाग लगा देता है; उसकी आंखें आंसुओं से भर-भर नहीं आतीं जब वह चीखते-चिल्लाते दुःखी जन को पीड़ा के गर्त में से उठा लेता है। वह उसे वैसे ही उठाता है जैसे कोई पिता अपने रोते हुए बालक को दलदल में फिसल पड़ने पर उठाता है। बालक सोचता है कि उसके चोट लग गयी है और वह रोता है। पिता जानता है कि सचमुच उसके चोट नहीं लगी है इसलिये वह दुःख नहीं करता, वह उसे फटकारता भी नहीं, वह उसे उठा लेता है और उसकी हठीली काल्पनिक पीड़ा को शांत करता है। ऐसी आत्मा भगवान् बन जाती है जो सहायता और प्रेम करने के लिये बलवान् और प्रेम-भरी होती है। वह स्वयं रो-धोकर मनुष्य के आंसुओं के सागर को और बढ़ाती नहीं है। जब बुद्ध ने जगत् के दुःख-दर्द को देखा तो वे रोये नहीं, वे उसकी रक्षा के लिये आगे बढ़े। और निश्चय ही ऐसी आत्मा अपने बाह्य स्व पर बाहरी जगत् से मिलते हुए दीखनेवाले तमाचों पर दुःख न करेगी क्योंकि जो समस्त विश्व है वह दुःख कैसे कर सकता है? उसके अपने तुच्छ स्व की पीड़ा उसकी चेतना के लिये उससे अधिक न होगी जितनी एक पैरों तले कुचली गयी चींटी की पीड़ा उस राजा के लिये जो राष्ट्रों की नियति को अपने कंधों पर ढोते हुए, चिंतन करता हुआ अपने बगीचे में टहलता है। वह चाहे तो भी अपने लिये दुःखी नहीं हो सकता क्योंकि उसे पूरे एक जगत् के दुःखों का शमन करना है, उसके लिये अपना सुख कुछ भी नहीं है क्योंकि पूरे जगत् का सुख उसके आधिपत्य में होता है।

ज्ञान या दर्शन पाने के लिये दो रास्ते हैं। एक है अंतर्दर्शन का मार्ग, दूसरा है जगत्-दर्शन का मार्ग। भक्ति के दो मार्ग हैं : एक है आत्मा को

तुम्हारे अंदर केंद्रित सबका भगवान् मानकर उसके प्रति भक्ति और दूसरा है आत्मा को समस्त विश्व में फैला हुआ भगवान् मानकर उसके प्रति भक्ति। कर्म के भी दो मार्ग हैं, एक है योग द्वारा, कोषों की निश्चलता और अनिर्वचनीय, निष्क्रिय फिर भी सबको आवृत करनेवाली अंतरस्थ आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता, दूसरा मार्ग है क्लामना की निष्क्रियता और समस्त विश्व में अधिक विस्तृत स्व के लिये बृहत्तर कोषों की निःस्वार्थ क्रियाशीलता। पहले मार्ग के लिये तुम्हें अपनी आंखें बाहर फेरने की जगह भीतर आवृत करनी होंगी, संपर्क और संवेदन के सुखों को अपने से दूर करके, मन और उसकी इंद्रियों को चुप करके और द्वित के ऊपर उठकर अपने अंदर एक बन जाओ 'आत्मतुष्टिरात्मारामः'। क्या यह तेरे लिये बहुत कठिन है? क्या तेरा मन तुझे अशक्त छोड़ देता है, क्या तेरे कोषों का परिताप तेरे भीतर अमर आत्मा को अब भी छिपाये रहता है? आंसुओं को अपनी आंखों से मार भगा, भले वे खून के आंसू क्यों न हों, वे जैसे ही चूना शुरू करें उन्हें आग्रह के साथ पोंछ डाल और बाहर की ओर विश्व पर नजर डाल। वही तेरी आत्मा है, वही ब्रह्म है। इस सारी वैश्व हलचल का अनुभव कर, सूर्यों की इस परिक्रमा का, इस प्रकाश का, इस प्राण का, इस अंतहीन क्रियाशीलता का अनुभव कर। इस समस्त विश्व के अंदर तू स्वयं दोलायमान है, तू ही यह सूर्य, यह चंद्र और ये नक्षत्र है। सागर तेरे अंदर ही ठाठें मारता है, तूफान तेरे अंदर ही उठते हैं, पहाड़ तेरे अंदर ही दृढ़ता से खड़े हैं। अगर तू न होता तो ये चीजें भी न होतीं। क्या तू ब्रह्म के अंदर इस छोटे-से धूल के कण के कष्टों, इस छोटे-से कीट-आवरण के कष्टों के लिये दुःख मना सकता है? इन दुःखों का तू ही तो रचयिता है, क्या तू इनका अंत करनेवाला नहीं हो सकता? क्या यह दर्शन तेरे लिये बहुत बड़ा है? तब अपने चारों ओर नजर दौड़ा, अपनी दृष्टि को वहींतक सीमित कर दे। ये तेरे चारों ओर के सभी नर-नारी और जीवित प्राणी, उनके अनगिनत सुख और दुःख, इनमें से कौन-से तेरे हैं? ये सब तेरी आत्मा हैं और सब तेरे अंदर हैं। तू उनका स्रष्टा, पोषक और विनाशक है। अगर तू चाहे तो उन्हें तोड़ सकता है और अगर तू चाहे तो उन्हें अपने दुःख-दैन्य से मुक्त कर सकता

है क्योंकि तेरे अंदर अनंत शक्ति है, अपने-आपको औरों के अंदर कष्ट पहुंचाकर तू असुर तो न बनेगा ? तब फिर तू औरों के अंदर अपने-आपकी सहायता करने के लिये देव बन जा। जो तेरे निकट रहते हैं उनके दुःखों को जान और उन्हें दूर कर। तुझे शीघ्र अनुभव होगा कि तू इतने कालतक कैसे आनंद को खोये बैठा था; एक ऐसे आनंद को जिसमें तेरा अपना दुःख अपार्थिव कुहरे की तरह बढ़ता है। महान् शक्तिशाली अधर्मियों के साथ भिड़ जा, अत्याचार-पीड़ितों की सहायता कर, दास और बद्ध को मुक्त कर तो शीघ्र ही तुझे उस आनंद का पता चल जायेगा जो किसी भी सुख से बढ़कर है, तुझे शीघ्र ही उस एकमेव के आनंद की दीक्षा मिल जायेगी जो सबमें है। मृत्यु में भी तू उस आनंद को जानेगा और अपने अंदर से बहते रक्त में भी आनंद लेगा।

शिष्य—ये आदर्श बहुत अधिक ऊंचे हैं। उनके पीछे चलने के लिये बल कहां है और उस बल को पाने का रास्ता कहां है ?

गुरु—उसका बल स्वयं तुम्हारे अंदर है और उस बल को पाने का मार्ग पुराकाल से तुम्हारा जाना हुआ है। लेकिन पहले उस आदर्श को स्वीकार करो नहीं तो रास्ते में आनेवाली बाधाओं को पार करने के लिये तुम्हारे पास कोई प्रेरणा न होगी।

शिष्य—मगर कितने हैं जो इस आदर्श को स्वीकार करेंगे जब कि बहुतेरे अधिक सरल आदर्श बल और सुख-सुविधा देने के लिये मिल सकते हैं ?

गुरु—लेकिन क्या वे आदर्श सच्चे हैं ? भ्रम तुम्हें कुछ समय के लिये बल और सुख-सुविधा दे सकता है लेकिन कुछ समय के बाद वे चकनाचूर हो जाते हैं और तुम्हें 'अस्तव्यस्तता' में लुढ़कने के लिये छोड़ जाते हैं। केवल सत्य ही निश्चित और चिरस्थायी विश्राम की चट्टान और बल का अविरत अग्रणी है। समस्त विश्व सत्य पर, अस्ति पर आधारित है, नास्ति पर नहीं। स्थूल जड़-पदार्थ के तामसिक कोष में भ्रमपूर्वक सुख से रहना मनुष्य का स्वभाव है। दर्शन और धर्म का काम है कि इस भ्रम को दूर करे और उसे सत्य के सम्मुख आने के लिये बाधित करे।

शिष्य—लेकिन कई बुद्धिमानों का कहना है कि ये छोटे आदर्श ही सत्य हैं, दर्शन और सत्य सत्य नहीं भ्रम हैं।

गुरु—इन नवजात सत्तों में एक भी बतलाओ मुझे जो उस ज्ञान को दूर करने का दावा करता हो जो अनादि और अनंत है, क्योंकि तुम मेरी अपेक्षा पाश्चात्य विज्ञान के बारे में अधिक जानते हो।

शिष्य—एक है अधिक-से-अधिक भला करने का सिद्धांत जिसमें कुछ सीमित, निश्चित और प्राप्य है—उसमें कोई तत्त्व ज्ञान की या अमूर्त वस्तु नहीं है।

गुरु—इस देश में हमने कुछ ऐसी बातें सुनी हैं। यह गणित द्वारा नैतिकता की ऐसी पद्धति है जिसे उपयोगितावाद कहा जाता है, जो चाहती है कि मनुष्य सारे जीवन तराजू हाथ में लिये अच्छे और बुरे को तोलता रहे। अपने समय में इसने कुछ भला किया था किंतु यह सत्य न था और स्थायी न हो सका।

शिष्य—यह किस बात में सत्य नहीं है ?

गुरु—यह सत्य नहीं है क्योंकि यह मानव स्वभाव में नहीं है। किसी मनुष्य ने किसी क्रिया के परिणाम-स्वरूप होनेवाले सुख-दुःख का गणित के हिसाब से लेखा-जोखा नहीं किया है और न ही कभी करेगा और न ही क्रिया करने से पहले उन लोगों का हिसाब लगाया है जिनपर उनके विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। इस प्रकार का नैतिक बीज-गणित, नैतिक हिसाब-किताब की इस पद्धति के लिये एक अन्य ग्रह की आवश्यकता है; एक योग्य लेखापाल के मानव धरातल पर उत्पन्न होने की जरूरत है। तुम सुख-दुःख, अच्छे बुरे को पाठंड, आठंस में नहीं तौल सकते: मानव भावनाएं, अमूर्त भाव दुर्ग्राह्य और क्षण-क्षण बदलनेवाले होते हैं। अपनी अत्यधिक व्यावहारिकता और निश्चितता के आभास के बावजूद उपयोगितावाद वास्तव में किसी भी निश्चित सत्य से खाली है, वह कोई भी सच्चा और सहायक पथ-प्रदर्शन देने में असमर्थ है। अपने-आपमें वह प्रकाश और अंतर्भास से समान रूप से रिक्त है, वह शुष्क, नीरस और निर्जीव सिद्धांत है और उससे भी बुरी बात यह है कि वह मिथ्या है। उसमें

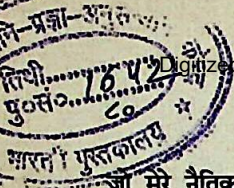
जो कुछ मूल्यवान् है वह परोपकारवाद की नकल या उसका व्यंग-चित्र है। वह हमें तोल और माप के ऐसे मानक देता है जिन्हें निश्चित करना एकदम असंभव है। वह आत्माहुति के लिये या उसके प्रति तीव्र प्रेरणा के लिये कोई दार्शनिक औचित्य सिद्ध करने में असमर्थ रहता है। मेरा ख्याल है कि उपयोगितावादी सुखवाद—यही तो मुहावरा है न ?—से ऐसा मालूम होता है कि दूसरों का भला करके हम वस्तुतः अपने लिये विशुद्धतः किसी भी सीमित संतोष से मिलनेवाले सुख की अपेक्षा अधिक विरल और अधिक गहरा सुख पा सकते हैं। बात बिल्कुल सच्ची है लेकिन यह सच सीखने के लिये हमें किसी सुखवादी या उपयोगितावादी की जरूरत नहीं है। बौद्ध लोग इसे दो हजार वर्ष पहले से जानते थे और भारत वर्ष के आर्य उससे भी पहले से इसे व्यवहार में लाते थे। श्रीकृष्ण का सारा जीवन औरों का, अपने मित्रों का, अपने देश का और जगत् का भला करने में लगा और श्रीकृष्ण का दुःख या पीड़ा से कभी परिचय नहीं हुआ। लेकिन उदारता और परोपकारिता से तीन तरह के सुख मिल सकते हैं; पहला है दर्प का संतोष, अपनी प्रशंसा सुनने का दर्प, यह अनुभव करने का दर्प कि मैं कितना अच्छा हूँ। मेरा ख्याल है कि भारतवर्ष की अधिकतर उदारता की तह में यही भाव होता है और यूरोप में इससे भी बढ़कर; और यहां सुखवाद अधिक क्रियाशील होता है; लेकिन यह कमजोर कमानी है जो किसी भी तनाव के कारण टूट सकती है; यह उदारता की ओर तो ले जा सकती है परंतु आत्माहुति की ओर कभी नहीं। और फिर है कोई अच्छा काम करने की और अपने-आपको स्वर्ग के अधिक निकट लाने की खुशी। यह आर्यवर्त में परोपकार के लिये सबसे बड़ी प्रेरणा होती थी और शायद अब भी है। यह अधिक सशक्त कमानी है लेकिन यह संकरी है और सच्ची आत्मातक नहीं पहुंचती; उसका सर्वोत्तम मूल्य यह है कि यह पवित्रीकरण की ओर सहायक होती है और फिर हैं ऐसी आत्माएं जो प्रेम और निःस्वार्थता के लिये पैदा हुई हैं, शुद्ध रूप से औरों की सहायता करने के लिये, औरों के लिये कष्ट सहने के लिये, जो आंसुओं से भीगे चेहरों पर, कष्ट से भीगी आंखों पर खुशी को लौटते देखने के लिये उस आनंद का अनुभव करती हैं

जो अपने अंदर भगवान् के उमड़ने से प्राप्त होता है। इन लोगों के लिये सुखवाद मिथ्या अभिमान और बच्चों का तुतलाना है। उपयोगितावाद में सुखवादी तत्त्व एक ऐसे महान् सत्य को खोजने का भूल-भरा टटोलता हुआ प्रयास है जिसे न तो वह पकड़ पाया है न वैज्ञानिक यथार्थता के साथ घोषित ही कर सका है। वह सत्य केवल वेदांत की स्पष्ट और आलोकमय शिक्षा में ही पाया जाता है। वह यह है, जिस मिश्रित परिणाम को हम मनुष्य कहते हैं वह निश्चय ही एकाकी, सरल, एकरूप सत्ता नहीं, जैसा कि हमारी इंद्रियां मानना चाहेंगी, बल्कि मिश्रित परिणाम है। वह बहुत-से तत्त्वों से मिलकर बना है, शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक और तात्त्विक। और उसकी सच्ची आत्मा जिस तत्त्व में रहती है वह इन पचमेल तत्त्वों में से कोई नहीं है बल्कि इनके परे और परात्पर है। अतः सुख, दुःख, अच्छा, बुरा स्थायी और निश्चित सत्ताएं नहीं हैं। इनमें से पहली पचमेल राशि है जो कभी-कभी आपस में भिड़ते हुए भावों और आवेशों का मेल है जो ऐसे विभिन्न छिलकों में से आते हैं जिनमें आत्मा लिपटी रहती है। शुभ और अशुभ सापेक्ष हैं और इसपर निर्भर हैं कि हम मनुष्य के इस छोटे-से ब्रह्मांड में आत्मा की सच्ची स्थिति के बारे में कौन-सा दृष्टिकोण अपनाते हैं। अगर हम उस आत्मा को कहीं नीचे स्थित मानें तो हमारा शुभ धरती की एक तुच्छ चीज, पार्थिव होगा जिसे अशुभ से मुश्किल से ही अलग जाना जा सकता है। अगर हम उसे उसके अपने सच्चे स्थान पर देखें तो हमारा शुभ स्वर्ग के समान उच्च और विस्तृत होगा। समस्त पीड़ा और सुख, सभी शुभ और अशुभ अपना जन्म, अपना अस्तित्व और अपना अंत आत्मा में ही पाते हैं। अतः इसका अर्थ यह होता है कि उच्चतम प्रेम और परोपकारिता भी आत्मा से बंधे हैं। परोपकारिता औरों के लिये अपनी बलि नहीं है बल्कि अपने मिथ्या स्व की अपनी सच्ची आत्मा पर बलि है। जबतक हम योगी न हों, इसे औरों में ही अच्छी तरह देख सकते हैं। सच्चा प्रेम औरों के लिये प्रेम नहीं है, बल्कि अपनी आत्मा के लिये प्रेम है, क्योंकि हम संभवतः किसी ऐसी चीज से प्रेम नहीं कर सकते जो हमारी अपनी आत्मा न हो। अगर हम किसी ऐसे से प्रेम करें जो हमारी आत्मा नहीं है तो वह संपर्क का

परिणाम होना चाहिये लेकिन हम केवल संपर्क से, स्पर्श से प्रेम नहीं कर सकते क्योंकि संपर्क अपने स्वभाव तथा परिणामों में अस्थायी होता है और प्रेम जैसे स्थायी भाव को नहीं जगा सकता। याज्ञवल्क्य ने ठीक ही कहा है, “हम पत्नी की चाह पत्नी के लिये नहीं करते बल्कि ‘आत्मनस्तु कामाय’, आत्मा के लिये करते हैं।” अगर हम उन चीजों को आत्मा मान लें जो सच्ची आत्मा नहीं हैं तो परिणाम-स्वरूप हम ऐसी चीजों को प्रेम मान बैठेंगे जो सचमुच प्रेम नहीं हैं। अगर हम चोकर को आत्मा मान बैठें तो हम पत्नी की कामना शारीरिक तुष्टि के लिये करेंगे। अगर हम प्राणिक भाव के चोकर को आत्मा मान लें तो हम भावनामय तुष्टि के लिये पत्नी की कामना करेंगे। अगर हम मानसिक चोकर को आत्मा मान लें तो हम पत्नी की चाह सौंदर्य-बोध की तुष्टि के लिये, घर के आस-पास उसकी उपस्थिति, उसकी आवाज, उसकी सूरत-शकल के सुखद बोध के लिये करेंगे। अगर हम बौद्धिक चोकर को आत्मा मान लें तो हम पत्नी की चाह करेंगे उसकी विशेषताओं और उसके सद्गुणों, उसकी क्षमताओं और मानसिक प्रतिभाओं और समझ की तुष्टि के लिये। अगर हम आत्मा को आनंदमय कोष में देखें जहां भूल-भ्रांति का तत्त्व लगभग लुप्त-सा हो जाता है तो हम पत्नी की इच्छा सच्ची आत्मा की तुष्टि के लिये, ऐक्य के भाव की तुष्टि के लिये, एक हो जाने के भाव के लिये करेंगे। और अगर हमने अपनी सच्ची आत्मा को चोकर या आवरण के बिना देखा और समझा है तो हम पत्नी की चाह बिल्कुल न करेंगे क्योंकि हमें उसपर अधिकार होगा, हम जानते होंगे कि वह पहले से ही हमारी आत्मा है, अतः उसे उसके कोषों में चाहने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह पहले ही अधिकृत है। इसका मतलब यह हुआ कि हम जितने ही आंतरिक कोष को आत्मा समझ लें, उतना ही शुद्ध सुख, उतना ही उच्च शुभ का विचार होगा, यहांतक कि वास्तविक निरावरण में हम शुभ और अशुभ के ऊपर उठ जाते हैं क्योंकि तब हमें न तो शुभ की जरूरत रहती है और न अशुभ के लिये प्रलोभन। भावनात्मक सुख शारीरिक सुख से ऊंचा, सौंदर्यात्मक भावनात्मक से, बौद्धिक सौंदर्यात्मक से, नैतिक बौद्धिक से और आध्यात्मिक सुख नैतिक सुख से ऊंचा होता है। नीति-शास्त्र का यही पूर्ण

सत्य और पूर्ण दर्शन है। बाकी सब शक्तियों की व्यावहारिक व्यवस्था और संतुलन है, सामाजिक संतुलन या अन्य महत्त्वपूर्ण परंतु अस्थायी लक्ष्य के लिये ऊर्जाओं की मितव्ययता है।

उपयोगितावाद सत्य की एक आंशिक और उलझी हुई दृष्टि पाता है और उचित रूप से उसका मेल बैठाने में असमर्थ होने के कारण किसी विधान, मानक या व्यवस्था के सिद्धांत के लिये टटोलता फिरता है और मान लेता है कि उसने उसे उपयोगिता में पा लिया है। लेकिन कैसी उपयोगिता? मैं, यह निष्पादित पशु जिसमें कामनाएं, विचार, स्पंदन और उन्हें तुष्ट करने की उत्कट आवश्यकता है, अच्छी तरह समझ सकता है कि व्यक्तिगत उपयोगिता क्या है; इस प्राणिक, भावात्मक और विचारात्मक "मैं" के लिये उपयोगिता। मेरी उपयोगिता है अपने जीवन और उसकी सुरक्षा से मेल खाती हुई अधिक-से-अधिक संवेदात्मक, भावात्मक, बौद्धिक तुष्टि पाना; यदि उपयोगिता ही मेरे आचार का मानक हो तो यही मेरा नीति-शास्त्र है। लेकिन जब तुम मुझसे कहते हो कि उपयोगिता और बौद्धिकता के नाम पर किसी उच्चतर या अधिक विस्तृत उपयोगिता के लिये, औरों के लिये, अधिक संख्यक लोगों के लिये, समाज के लिये इन चीजों की आहुति दे दूं तो मैं तुम्हारा अनुकरण नहीं करता। जिस हदतक शासन चलाने के लिये, विधान और सुव्यवस्था और अच्छी पुलिस रखने के लिये आवश्यक है, वहांतक मैं समझ सकता हूं क्योंकि ये चीजें मेरी सुरक्षा और मेरे आराम के लिये जरूरी हैं। समाज ने मुझे ये चीजें दी हैं और मेरा कर्तव्य है कि इन्हें बनाये रखने के लिये अपना योगदान दूं तथा औरों से भी दिलवाऊं। यह व्यापारी बुद्धि है, उपयोगिता की दृष्टि से भी और युक्ति-संगत दृष्टि से भी। लेकिन इसके परे समाज का मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं है। समाज का अस्तित्व मेरे लिये है, मेरा समाज के लिये नहीं। तो अगर मुझे उन चीजों की समाज के लिये, अपने जीवन, अपनी वस्तुओं, अपनी घरेलू शांति के लिये बलि देनी पड़े जिन्हें शायद मैं सबसे अधिक चाहता हूं, तो मेरे लिये समाज का उपयोग नहीं रहता। तब मैं समाज को एक कपटी जमाकर्ता के रूप में मानता हूं



जो मेरे नैतिक बैंक में से उससे अधिक निकालना चाहता है जितना उसने जमा किया है। साधारण मनुष्य, जो न अनैतिक है और न बहुत नैतिक, केवल एक संभ्रांत व्यक्ति है, यह युक्ति दे सकता है और उपयोगितावाद उसे कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकता।

और फिर, यदि मेरे अंदर और भी सहज वृत्तियाँ हैं जो संभ्रांत व्यक्ति में नहीं पायी जातीं, और उन्हें पूरा करने की क्षमता है, तो मैं क्यों उनसे परहेज करूँ ? मुझे कौन-सी चीज रोकती है ? अगर मैं धोखा-धड़ी के किसी सुरक्षित तरीके से, जूए या सट्टे से या अमरीकी धनाढ्यों के दयाहीन तरीकों से, तेजी से विपुल धन कमा सकूँ तो मैं उससे क्यों दूर रहूँ ? समाज-विरोधी आचरण का आरोप ? लेकिन मजबूत स्वभाव अहंकारी के लिये इन बातों का कोई भय नहीं रहता। वह जानता है कि वह समाज के विरोध को स्वर्ण-मोहरों की बौछार से बंद कर सकता है। प्राणिक रूप से संवेदनात्मक मनुष्य के लिये नैतिकता उपयोगितावाद के काल में केवल सामाजिक या कानूनी दया का भय बनकर रह जाती है और मजबूत लोग नहीं डरते और जबतक उनके कर्म समाज के ढाँचे को ही न हिला दें तबतक उपयोगितावादी समाज उनकी भर्त्सना करने की परवाह नहीं करता क्योंकि वे किन्हीं कड़े दंड-विधान को नहीं तोड़ते, किन्हीं गहरी जड़ोंवाले मनोभावों को आघात नहीं पहुंचाते—उपयोगितावादी सोच-समझकर मनोभावों से कत्री कटा लेता है। वह पुराने पूर्वाग्रहों और धर्म की शक्तियों को तो नष्ट करता है परंतु उनका स्थान लेने के लिये उसके पास शक्ति और भय के सिवा और कुछ नहीं होता। इन लोगों से यह कहना बेकार होता है कि वे सदाचार और परोपकार में अपनी वर्तमान स्वार्थपरता और समाज-विरोधी जीवन की अपेक्षा अधिक सच्चा और गहरा आनंद पाएंगे। ये दार्शनिक जो बात कहते हैं उसका प्रमाण या दार्शनिक औचित्य कहां है ? उनका निजी अनुभव ? परंतु यह किसी सामान्य संवेदनात्मक मनुष्य के लिये प्रामाणिक नहीं है। उसका गहरे-से-गहरा सुख आवश्यक रूप से प्राणिक और संवेदनशील है। यह केवल उन्हीं लोगों के लिये मान्य होता है जो ऐसा वक्तव्य देते हैं क्योंकि वे बुद्धि-प्रधान लोग होते हैं जिन्हें मृत ईसाइयत से बची हुई नैतिक

शिक्षा प्राप्त होती है। उसके संवेदनात्मक मनुष्य होने के लिये यह जरूरी है कि वह संवेदनात्मक होना बंद कर दे। उसे आध्यात्मिक पुनरुद्धार की प्रक्रिया में से गुजरना होगा जिसके लिये उपयोगितावादी दर्शन चाबी या कोई प्रेरक प्रेरणा भी नहीं दे सकता। उपयोगितावादी के मुख से गहरे और सच्चे आनंद की बात सुना-सुनाया ज्ञान है, उसकी अपनी कमाई नहीं। यह नैतिक सिक्कों के खजाने का एक भाग है जिसे ईसाइयत की तिजोरी के बुद्धिवाद से भरा गया है। आजकल की यूरोपीय सभ्यता उसीके ऊपर खतरनाक ढंग से टिकी हुई है। उस दिन की बात सोचकर घबराहट होती है जब यह सिक्का चुक जायेगा—हम अभीसे बढ़ते हुए नैतिक गंवारूपन, अश्लीलता, लगभग जंगलीपन को यूरोपीय मानस में बढ़ते हुए देखते हैं। अगर यह बढ़ता गया, अगर इस पाशविक शक्ति और चरित्रहीन बल की खुले आम पूजा बढ़ती गयी जो अगर आज यूरोप की राजनीति में उच्छृंखल रूप से और व्यापारिक दोष के रूप में बढ़े, जैसा कि अंततः उसे करना ही होगा, तो समाज का गभीरतर हृदय प्राणिक और संवेदनात्मक आवेशों के एक ऐसे गुप्त अनुष्ठान की ओर ले जायेगा जैसा रोम के साम्राज्य के सबसे बुरे काल से आज तक नहीं देखा गया।

शिष्य—लेकिन लीकी ने सिद्ध कर दिया है कि यूरोप का नैतिक सुधार पूरी तरह बुद्धिवाद के उभरने की वजह से हुआ है।

गुरु—मेरे बेटे, यूरोप और एशिया दोनों में विद्वान् और सुसंस्कृत मन एक ऐसी महान् विशेषता है जिसकी हमें सराहना तो करनी चाहिये पर नकल नहीं, और यह है शब्दों के साथ चालाकी के साथ बाजीगरी। अगर तुम किसी शब्द-विशेष को विस्तृत अर्थ देना चाहो, एक ऐसा अर्थ जो वह नहीं देता या उसे नहीं देना चाहिये तो तुम आसानी से उसपर सिद्धांत की एक चमकती हुई इमारत खड़ी कर सकते हो जो आंखों को तबतक मोहित करती रहती है जबतक कि कोई और अधिक प्रभावकारी शब्द के साथ न आ जाये जिसे अधिक प्रभावशाली अर्थ के साथ विस्तारित किया जाये, जो पुरानी इमारत को ढाकर एक नये और अधिक चमचमाते भवन की रचना कर दे। इस तरह प्राचीन शाश्वत सत्य के ऊपर निकम्मी अधिरचनाएं खड़ी

हो जाती हैं, यहांतक कि एक दिन कोई हितकर भूकंप आकर इमारतों और उन्हें बनानेवालों को हड़प लेता है और प्राचीन सत्य को प्रकट करता है जिसे कोई परिवर्तन या संयोग हानि नहीं पहुंचा सकता। यूरोप के हमेशा बदलते रहनेवाले सिद्धांतों के दिये हुए चक्करों में केवल दो आधारभूत सत्य हैं जिनका बहुधा गलत प्रयोग होता है, फिर भी वे आभास के क्षेत्र में सच्चे हैं—विकास, जिसकी शिक्षा हमारे सांख्य और वेदांत ने भिन्न-भिन्न रूपों में दी है और अनिवार्य कार्य-कारण विधान, जो हमारे काल और कर्म के सिद्धांतों में अंतर्निहित है। ये ग्रहण करते और मजबूती से पकड़े रहते हैं। इन्हें क्रियान्वित करके, हमेशा भली-भांति नहीं, परंतु हमेशा अर्थगर्भित रूप में क्रियान्वित करके यूरोप ने ज्ञान के शाश्वत भंडार में अपना सच्चा योगदान दिया है। लेकिन उसके वादों और संप्रदायों पर विश्वास न करो—उनकी मनोभूलों में सत्य का कोई छोटा-सा दाना होता है।

शिष्य—फिर भी मुझे लगता है कि लीकी एकदम से गलत नहीं है।

गुरु—इसके विपरीत उसकी बात बिल्कुल सच्ची है, यदि हम समस्त प्रबोध को, उसके स्वभाव और उसके स्रोत की ओर ध्यान दिये बिना, बुद्धिवाद मान लें और यह कि यूरोप का नैतिक विकास वर्धनशील प्रबोध के द्वारा हुआ तो बात बिल्कुल सच है क्योंकि ज्ञान, इससे मेरा मतलब पाठशाला के अध्यापक की जानकारी के थैले या विश्वविद्यालय की पढ़ाई से नहीं बल्कि ज्ञान, सत्य के दर्शन और उसकी सिद्धि से है जो पाप का शाश्वत शत्रु और बधिक है, क्योंकि पाप अज्ञान से उसके पुत्र अहंकार का वंशज है। यह सच है कि यूरोप में तथाकथित ईसाइयत के युग पाप और अंधकार के काल थे। यूरोप ने ईसा को केवल इसीलिये स्वीकार किया था ताकि वह उन्हें फिर से सूली पर चढ़ा सके। उसने उन्हें अपनी शुद्ध, दयापूर्ण शिक्षा के साथ जिंदा ही गाड़ दिया था और उस जीवित कब्र के ऊपर उसने गिरजा नामक चीज का निर्माण किया। हम जिस चीज को ईसाइयत के नाम से जानते हैं वह रोमन भ्रष्टाचार, जर्मन बर्बरता और प्राचीन संस्कृति के टुकड़ों का एक अजीब-सा मिश्रण था जो उस हल्के-से प्रकाश से नहाया हुआ था जो सूली पर चढ़े और कब्र में दफन किये हुए ईसा की पवित्र

भृकुटियों से ऊपर की ओर प्रवाहित होता था। उन्होंने पश्चिम के लिये जिस महान् आध्यात्मिक संचय को खोला था उसे ताला चाबी लगाकर उन व्यक्तियों के सिवा बाकी सबके लिये अप्राप्य रखा गया जिनकी आत्मा इतनी प्रकाशमान थी कि व्यापक अंधकार द्वारा हड़पी न जा सके। समस्त ज्ञान वर्जित था, इसलिये नहीं कि धर्म और विज्ञान के बीच कोई स्वाभाविक द्वंद्व था बल्कि इसलिये कि राजनीतिक पुरोहितवाद के रूढ़िवाद और फिर से उठते हुए ज्ञान में स्वाभाविक असमाधेय विरोध था। फिर से एशिया यूरोप के उद्धार के लिये आया और अरबों की उदार संस्कृति से विज्ञान ने अपनी मध्यकालीन रात्रि में पुनर्जन्म पाया और विज्ञान के उत्पीड़ित और संतप्त प्रकाश ने संघर्ष किया, यहांतक कि अंधकार को वश में कर लिया गया और घायल करके मौत के घाटतक पहुंचा दिया गया। बाहरी रूप से यूरोप का बौद्धिक इतिहास विज्ञान और गिरजावाद के बीच संघर्ष की कहानी रहा है, उस गिरजावाद की जो ईसाई धर्म को चक्कर में डालता था, जो अधरों पर तो ईसाई धर्म को स्वीकार करता था और हाथों से उसका गला घोटने की कोशिश करता था। भीतर से वह देवों और असुरों, सत्त्व और तमस् के बीच का पुराना संघर्ष ही था। अब धर्म सात्विक है जिसमें प्रकाश की ओर एक स्वाभाविक अंतः-प्रेरणा होती है, वह तामसिक नहीं हो सकता, देवों के शत्रुओं के साथ उसका कोई संबंध नहीं हो सकता और अगर कोई चीज, जो अपने-आपको धर्म कहती है, प्रकाश को दबा देने की कोशिश करे तो तुम विश्वास रखो कि वह धर्म नहीं है बल्कि उसके नाम से छद्मवेश में आनेवाला कोई ढोंगी है। विचार करो वे कौन-से भाव थे जिनके तले, मानों झंडे तले, आधुनिक भाव ने मध्यकालीन दानव को धर पछाड़ा था। उन भावों की अंतिम लहर हम फ्रांसीसी क्रांति में देखते हैं। हम क्रांति का आदर्श-वाक्य जानते हैं : स्वाधीनता, समता और भ्रातृभाव, वह जिस भाव का दावा करती थी पर प्राप्त नहीं कर पायी, उसे भी हम जानते हैं, वह है मानवता। स्वाधीनता में, ईसाई धर्म की व्यक्तिगत नैतिक स्वाधीनता और यूनानियों की सामाजिक स्वाधीनता का मेल; समानता में, समाज पर लागू की गयी ईसाइयत की गणतंत्रवादी आध्यात्मिक समानता, भ्रातृभाव में, वैश्व

भाई-चारे के लिये अभीप्सा—यही है ईसाइयत का विशेष और प्रभेदक विचार; मानवता है दया, कृपा और प्रेम का वह बौद्ध भाव जिसके बारे में यूरोप तबतक कुछ नहीं जानता था जबतक ईसाई धर्म ने उसे भूमध्य-सागर और उससे भी बढ़कर शुद्ध रूप में आयरलैंड में नहीं फुसफुसाया। इसके साथ मिला हुआ था भारत से प्राचीन गूढ़ ज्ञानवादियों और अफलातूनवादियों द्वारा लिया हुआ मनुष्य में दिव्यता का भाव। ये विचार आज भी यूरोप को गहराईतक प्रभावित करते हैं। इनमें से कइयों को अपना लेने या सह लेने के लिये वैज्ञानिक जड़वाद बाधित हुआ है और अभीतक वह उनमें से किसीको निर्मूल करने में सफल नहीं हुआ है। बुद्धिवाद ने इन भावों की रचना नहीं की, उसने उन्हें पाया और अपना लिया। बुद्धिवाद वह भाव है जो सभी मान्यताओं और मतों को अवलोकित तथ्यों से तर्क की कसौटी पर कसता है। वास्तव में वह बौद्धिक कोष है—अधिकतर निम्न या मात्र अर्ध-तर्कसंगत बौद्धिक कोष—जो अपने-आपको आत्मा के स्थान पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। हम इसे ही विज्ञान और वैज्ञानिक भाव कहते हैं। जहां कहीं वह शुद्ध शुष्क बुद्धि के प्रकाश में काम कर सका है, जो हमारी निम्न सत्ता के स्वार्थ, दर्प, आवेश, पक्षपात आदि के घावों से विकृत नहीं है, उसने अमूल्य परिणाम उपजाये हैं। अतः आवेशरहित अवलोकन, वर्गीकरण और तथ्यों के अन्योन्य-संबंध के बारे में हम किसी अविश्वास या लुढ़कने के भय के बिना विज्ञान का अनुसरण कर सकते हैं। लेकिन जब कभी वह, उसने मानव प्रकृति, मानव कार्रवाई और आध्यात्मिक विकास के बारे में जो कुछ देखा है, उसके आधार पर सिद्धांत बनाने लगता है तो विज्ञान हमेशा निम्नतर व्यक्तित्वों में हड़बड़ा कर गिर पड़ता है। जड़-भौतिक स्तर से ऊपर जड़-भौतिक पुरुष के विधान के अनुसार वस्तुओं को क्रमबद्ध करने के प्रयास में वह पानी पर चलने का, हवा में उतराने का प्रयास कर रहा है। वह ऐसी चीज कर रहा है जो तत्त्वतः अवैज्ञानिक है और जब वह इसी तरह से आत्मा की उच्चतर चीजों के साथ व्यवहार करना चाहता है तो यह गड़बड़ और भी अधिक बढ़ जाती है। तब उसके सिद्धांत ऐसे आश्चर्यजनक रूप से परस्पर-विरोधी हो जाते हैं कि हम यह देखकर

विस्मय से ठिठक जाते हैं कि तथ्यों के प्रशिक्षित निरीक्षक को पक्षपात और पूर्वाग्रह जान-बूझकर कितना अधिक अंधा बना देते हैं। वहां उनका अनुसरण न करो। वे अंधे को रास्ता दिखानेवाले अंधे हैं जो रात के समय अंधी चिड़िया की तरह उन्हीं शाश्वत दीवारों के साथ टकराती रहती है और उस खुली हुई खिड़की को नहीं देख पाती जिसमें से वह निकल सकती है।

शिष्य—लेकिन आपने कहा है कि विकास एक शाश्वत सत्य है। विकास के आधार पर ही वैज्ञानिकों ने एक नैतिक विधि खोज निकाली है जो पुराने धार्मिक विधि-विधान का स्थान लेती है, व्यक्ति पर जाति का परम अधिकार।

गुरु—कौन-सी जाति? अंग्रेज, जर्मन या रूसी या फिर महान् ऐंग्लो सेक्सन जो, ऐसा लगता है कि जगत् को विरासत में पायेगी, भगवान् के अंग्रेज और अब हमें यह भी जोड़ देना पड़ेगा, भगवान् के अमरीकन या फिर सारी गौरांग जातियां? व्यक्ति को विकास के नेता और अध्यक्ष के रूप में किसके आगे सिर झुकाना चाहिये?

शिष्य—मेरा मतलब सारी मानवजाति से है। व्यक्ति क्षण-भंगुर है, वर्ग बना रहता है और जीनस (वंश) लगभग चिरस्थायी होता है। इस आधार पर व्यक्ति का अपने प्रति कर्तव्य, समाज के प्रति कर्तव्य, अपने देश के प्रति कर्तव्य, मानवजाति के प्रति कर्तव्य—ये सब सुंदरता से वर्गीकृत, व्यवस्थित, संतुलित आयोजन में आ जाते हैं। समस्त नैतिकता ऐतिहासिक, अनिवार्य विकास प्रतीत होती है। हमें केवल उसे पहचानना और पथ पर चलकर पगडंडी पर पीछे लौटने की जगह विकास को आगे बढ़ाना है।

गुरु—और रूढ़िवादी, विकृत तथा अन्य भयंकर नामों से पुकारा जाऊं? फिर भी मैं इस सममित और अनिवार्य आधार से अधिक संतुष्ट रहूंगा; क्योंकि अगर मुझे विश्वास हो कि मैं एक क्षण-भंगुर पशु हूं तो मैं भी अन्य क्षण-भंगुर पशुओं की तरह अपने एक दिन में ही भोग करना ज्यादा पसंद करूंगा और मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता कि मैं अपने-आपको भविष्य के बारे में क्यों परेशान करूं। विज्ञान भले अपने शब्दकोष के बड़े-से-बड़े जबड़ातोड़ शब्दों की मुझपर बौछार करे, मुझे नहीं लगता कि मैं

उसकी बहुत परवाह करूंगा। और मेरा ख्याल है कि सर्वश्री रॉक फेलर और जे गोल्ड और करोड़ों अन्य लोग मेरे साथ हार्दिक रूप से सहमत होंगे। तुम कहते हो कि जीनस शाश्वत है? लेकिन मेरा ख्याल है कि यह विज्ञान की शिक्षा नहीं है। जैसा कि मैं समझता हूँ, मनुष्य केवल एक पशु है, एक विशेष प्रकार का बंदर जो अचानक किसी अबोधगम्य कारण से, अभीतक धरती पर जितने पशु उत्पन्न हुए हैं उनसे दस हजार मील आगे जा टपका है। अगर ऐसी बात है तो इसका कोई कारण नहीं कि कोई अन्य पशु मान लो कि एक विशेष प्रकार की चींटी अचानक किसी अबोधगम्य कारण से विकसित होकर हमसे एक लाख मील आगे न जा टपके और मनुष्य को वैसा ही छोटा न बना दे जैसा मनुष्य ने विशालकाय पशुओं को बना दिया। या किसी और तरीके से मानवजाति का स्थान कोई और जाति अवश्य ले लेगी। अभी हाल में जिस विशालकाय पशु की अस्थियां विज्ञान ने खोद कर निकाली हैं, उसका यह जानकर क्या भला होगा कि एक ऐसी जाति विकसित हुई है जो उसकी अस्थियों को खोदकर निकाल सकती है और उसके अवशेषों पर बहुत-से जबड़ातोड़ शब्दों में शोध-प्रबंध लिख सकती है? और अगर अपने काल में कोई वैज्ञानिक विशालकाय पशु यह संभावना उसके आगे रखता और उससे कहता कि तू विशालकाय पशु-जाति के हित को अपने आगे रख और इसके लिये अपने असामाजिक और स्वार्थपूर्ण तौर-तरीके छोड़ दे तो क्या उस अत्यधिक बुद्धिमान् विशालकाय पशु को यह आत्म-बलि देने के लिये काफी प्रयोजन मालूम होता? इन मामलों में उसका लाभ कहां आता है?

शिष्य—यह ठीक-ठीक व्यक्तिगत लाभ का प्रश्न नहीं है। यह अनिवार्य विधान का प्रश्न है। आप अपने-आपको अनिवार्य विधान के विरोध में रख रहे होंगे।

गुरु—सचमुच? इसकी मुझे क्या परवाह है? अगर अनिवार्य विधान का विरोध मुझे कोई हानि नहीं पहुंचाता बल्कि मेरे जीवन-काल में संतोष और समृद्धि लाता है और यदि मैं मिट्टी ही हूँ तो मेरी मृत्यु के बाद कोई चीज मुझे हानि नहीं पहुंचा सकती।

शिष्य—व्यक्ति अनैतिक हो सकता है लेकिन नैतिकता अनिवार्य रूप से प्रगति करती है।

गुरु—सचमुच ? मुझे नहीं लगता कि यूरोप की वर्तमान अवस्था इस धारणा के अनुकूल है। हमने सोचा था न कि विज्ञान सुसंस्कृत राष्ट्रों को धरती पर प्रभुत्व प्रदान करेगा और उन्हींका बोलबाला होगा। और हम उन्हें जनसंख्या में बिल्कुल स्थायी या पीछे हटता हुआ पाते हैं जो बल और साहस में विकृत होते दीखते हैं; वे अपने सच्चे प्रतापमय गुणों को खोते जाते हैं। हमने सोचा था कि नगरों की लूट-पाट, हत्याकांड, उत्पीड़न और घृणित बलात्कार को संस्कृति ने युद्ध के उपायों से मिटा दिया है। यूरोप के प्रबुद्ध लोग चीन में प्रवेश करते हैं और वहां गंदगी, रक्त और पीड़ा के शीत आनंद का गुप्त अनुष्ठान होता है जिससे अधिक-से-अधिक घृणित बर्बरों के सिवा सभी जुगुप्सा से कतरावेंगे। क्या यही अनिवार्य नैतिक प्रगति है या रेड इंडियनों की संशोधित बर्बरता है ? हमने सोचा था कि बढ़ती हुई शिक्षा और बौद्धिकता के साथ बढ़ती हुई शुद्धता या कम-से-कम सुरुचि तो आनी ही चाहिये। अमरीका के एक बड़े नगर में पुलिस वेश्यालयों की छान-बीन करती है और अपने जाल में सैकड़ों सुशिक्षित, सुसंस्कृत, रमणीय और गौरवपूर्ण नारियों को इकट्ठा करती है जो अपने साथ अपनी शिक्षा, सौंदर्य और संस्कृति को वहां ले गयी थीं। क्या यह अनिवार्य नैतिक प्रगति है या मेसालिना के दिन लौट रहे हैं ? ये इक्की-दुक्की घटनाएं नहीं हैं। इनके अनंतगुने उदाहरण मिल सकते हैं। यूरोप प्राचीन रोम के पदचिह्नों पर चल रहा है।

शिष्य—ये अधोगति के काल हैं। विकास सीधी रेखा में नहीं गोलाई में आगे बढ़ता है।

गुरु—और ख्याल रखो ये अधोगतियां अत्यंत अनिवार्य हो जाती हैं जब जगत् धर्म को छोड़कर दार्शनिक जड़वाद में डुबकी लगाता है। ये तत्काल

प्राचीन रोम की एक रानी जो अपने लोभ और कामुकता के लिये कुख्यात थी। उसका पति ये बातें न जानता था। पति की अनुपस्थिति में इसने खुले आम अपने प्रेमी के साथ शादी कर ली। बाद में पहले पति ने इसकी हत्या करवा डाली।

नहीं आतीं। जब प्राचीन धर्म की आत्मा शरीर की मृत्यु के बाद अभी बची होती है तो ऐसा लगता है कि देश बल और शक्ति में आगे बढ़ रहे हैं लेकिन शीघ्र ही मरणोपरान्त की शक्ति समाप्त हो जाती है। सभी प्राचीन देश इसलिये समाप्त हो गये क्योंकि उन्होंने बुद्धि के गर्व में आकर अपने धर्म को छोड़ दिया लेकिन भारत और चीन अभीतक जीवित हैं। ऐसी कौन-सी शक्ति थी जिसने पराजित भारत को लौह मुष्टि और लौह खुरों से कुचले जाने के बाद भी अमर रूप से बचाये रखा, जिसने हमेशा प्रतिरोध करने के लिये, तात्कालिक विजेता को अंततः अपने भीमकाय चरणों के नीचे मसलकर, फिर से अपने शक्तिशाली शीर्ष को तारोंतक उठा सकने के लिये अमर रूप से बनाये रखा। इसका कारण यह है कि उसने धर्म की पकड़ कभी नहीं छोड़ी, आत्मा पर श्रद्धा को कभी नहीं खोया। इसलिये श्रीकृष्ण का वचन हमेशा सत्य रहता है, इसलिये आद्या शक्ति, महान् चंडी जब-जब लोग उसे पुकारें तो हमेशा उतरती हैं और असुरों को टुकड़े-टुकड़े कर डालती हैं। समय बदलता है और पूर्व के असुरों की जगह एक नये प्रकार की बाहरी शक्ति भारत पर शासन करती है। लेकिन दुर्भाग्य होगा भारत का यदि वह अपने शाश्वत धर्म से अलग हो जाये। तब प्राचीन देशों की नियति उसे भी पकड़ लेगी। उसका नाम राष्ट्रों की सूची में से निकाल दिया जायेगा और उसके लोग धरती पर एक स्मृति या कहानी बनकर रह जायेंगे। उसे अपनी आत्मा के प्रति, अपनी आत्मशक्ति के प्रति सच्चा रहना चाहिये, आत्मा की शाश्वत शक्ति उसे फिर से बलवान् बनायेगी और ऊंचा उठायेगी। आधुनिक विज्ञान ने अपने-आपको गहराई के साथ दो मूलभूत भ्रांतियों में फंसा लिया है, उसने एक कार्य-कारण विधान बना लिया है जो यूनानी, हिंदू या अरब नियतिवाद से भी अधिक दृढ़ और कठोर है। उस पूर्व-नियति में व्यस्त होकर विज्ञान यह मानने लग गया है कि मानव इच्छा केवल एक सेवक है, नहीं, शाश्वत निर्जीव शक्तियों की रचना मात्र है। यह विज्ञान की भूल है और अगर वह अपनी दृष्टि को विस्तृत न करे तो अधिक समय बीतने से पहले, बड़ी आसानी के साथ उसे बड़े भदे ढंग से अपनी भूल पर विश्वास हो जायेगा। इच्छा-शक्ति किसी भी विधान, नियति या

शक्ति से अधिक बलवान् है। इच्छा-शक्ति शाश्वत, सर्वशक्तिमान् है। उसने कार्य-कारण नियम बनाया है और वह उसपर शासन करती है। उसीने जड़-तत्त्व के नियम बनाये हैं और वह उन्हें लांघ भी सकती है। वह स्वयं वे सब शक्तियां हैं जो उसपर शासन करती और बांधती प्रतीत होती हैं। मानव इच्छा-शक्ति के लिये ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि उसे प्रगति की ओर विकसित होना ही होगा। अगर वह पीछे की ओर लौटना चाहे तो वह जायेगी और सारा संसार उसके साथ लड़खड़ाता, चीखता-चिल्लाता बर्बरता और अव्यवस्था में जा गिरेगा; और अगर वह आगे बढ़ना चाहे तो कोई शक्ति उसे रोक नहीं सकती। दूसरी भूल जो विज्ञान ने की है वह यह है कि वह ईसाइयत से उधार लेता है, वह यह कि अपने-आपसे स्पष्ट रूप से भिन्न सत्ताओं की ओर क्रिया और भाव को निर्देशित किया जा सकता है; सभी क्रियाएं और भाव आत्मा के लिये, आत्मा के अंदर हैं। लेकिन यदि विज्ञान मनुष्यों को यह सिखाये कि वे अपने-आपको स्पष्ट रूप से पृथक् और स्पष्टतः शारीरिक सत्ताएं मानें जिनका औरों के साथ भौतिक संपर्क और इंद्रियों के संचार के सिवा और कोई संबंध नहीं हो सकता, तो यह स्पष्ट है कि इस मान्यता से अभिभूत मानव-इच्छा अनिवार्य रूप से अपनी क्रियाओं और अपने विचारों को इसके अनुकूल गढ़ेगी और विकास की अधिक धुंधली नैतिक सामान्यताओं के ऊपर से गुजर जायेगी। और अंततः, इसका अर्थ होता है, अत्यधिक स्वार्थपरता, बढ़ती हुई विषयासक्ति, शक्ति, धन, सुख-सुविधा और अधिकार-भाव की लोलुपता, देवों के सभी अस्त्र-शस्त्र अपने सौ हाथों में लिये शत-भुज राक्षस की एक दानवीय तथा अहंकारमय नृशंसता। अगर मनुष्य अपने-आपको पशु माने तो वह पशु की तरह व्यवहार करेगा और पाशविक प्रेरणा को ही अपने पथ-प्रदर्शक के रूप में बढ़ाएगा। यूरोप ज्यादा तेजी से इस स्थितितक नहीं पहुंच रहा है इसका कारण यह है कि ज्ञान, धर्म, सत्य-प्रबोध, वह भले ही लंगड़ा और घायल क्यों न हो फिर भी मरने या समाप्त होने से आग्रह के साथ इंकार करता है; वह मानव इच्छा को यह मानने न देगा कि वह स्नायु, मांस, शरीर, पशु और क्षण-भंगुर चीज से बढ़कर कुछ नहीं है। धर्म बना रहता है और

जड़वादी विज्ञान के पीछा करने से बचने के लिये सैंकड़ों रूप धारण करता है और शाश्वत जननी को पुकारता है कि वह नीचे आकर उसे बचाये और निश्चय ही शीघ्र ही वे आयेंगी। नैतिकता के वे सभी आधार जो आधारभूत भगवान् और मनुष्य की अनंत प्रकृतितक नहीं जाते, भूल-भरे और क्षणिक होने चाहियें। धर्म और पुण्य की महानताएं वानर और बर्बर की सहज-वृत्तियों और रीति-रिवाजों से पैदा नहीं हुईं। वे प्रच्छन्न देव की चिरस्थायी ज्योतियां हैं जो अपने-आपको सदा अधिक स्पष्ट रेखाओं में, अधिकाधिक सुंदर इंद्रधनुषी चमक की बाढ़ में प्रकट करती हैं जिनकी परिसमाप्ति परम सिद्धि की शुद्ध शुभ्र ज्योति में होती है; जब सभी प्राणी हमारी आत्मा बन जाएं और हमारी आत्मा अपने निजी ऐक्य को उपलब्ध कर ले।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ॥

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

उपनिषद् इस ऐक्य को प्रतिष्ठित करके, जो एक ही साथ समस्त धर्म और नैतिकता का औचित्य और परिसमाप्ति है, जिसमें धर्म और नैतिकता इन दोनों से उच्चतर वस्तु में गायब हो जाते हैं, आगे चलकर इस नूतन प्रकाश में शाश्वत को समझने और उसका वर्णन करने में लग जाता है। चौथे मंत्र में 'उस' का वर्णन केवल महान् शक्ति के रूप में किया गया है जो इस सारे विश्व का सृजन करती और उसे घेरे रहती है। यहां 'उस' का वर्णन उस महान् ऐक्य के रूप में होगा जो अपनी अनभिव्यक्ति में समस्त अस्तित्व का उत्स है और अपनी अभिव्यक्ति में इन अनगिनत लोकों पर शासन करता है।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

यह वही है जो चारों ओर घूमा, वह दीप्ति, अशरीरी, अक्षत, स्नायु-रहित, शुद्ध, पाप से अछूता है; वह कवि, मनीषी, स्वयंभू है जो सब में व्याप्त है। वह अनंत काल से सभी वस्तुओं को पूरी तरह व्यवस्थित रखता है।

मंत्र पहले ली गयी स्थिति को लेकर शुरू होता है जिसमें कहा गया था

कि ईश सभी चीजों को उस तरह घेरें हुए हैं जैसे लबादा पहननेवाले को घेरें रहता है, जो गति के आभास से सभी वस्तुओं का सृजन करता है, जो सचमुच एक आभास ही है, शाश्वत की वास्तविकता नहीं। "यह वही है जो चारों ओर घूमा।" दूसरे शब्दों में, यह तो गति का भंवर है जिसे अभिव्यक्त शाश्वत ने क्रियान्वित किया है और लोकों का सृजन किया। उसने अपने अंदर से प्रज्ञा के रूप में शाश्वत बुद्धि को प्रवाहित किया और हर चीज का सृजन करते हुए उसमें प्रवेश किया और चारों ओर से घेर भी लिया। लेकिन वह है कौन ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रुति तुरंत नपुंसक लिंग की ओर मुड़ती है क्योंकि उसे प्रकाशमान परब्रह्म की ओर लौटना होगा जो लिंग या विशेषणों के भाव से परे है। वास्तव में वह, लोकों का स्रष्टा ही वह दीप्ति, उस अज्ञेय की प्रकाशमय छाया है जिसके बारे में हम केवल नेति नेति ही कह सकते हैं। उसका शरीर नहीं है, उसका रूप नहीं है, रूप उसके द्वारा निर्मित होता है अतः उसका यह पार्श्व है। उसमें व्रण या अपूर्णताएं नहीं हैं। वह दोष-रहित और पूर्ण ज्योति है। उसमें स्नायुएं या मांसपेशियां नहीं हैं। वह जड़-तत्त्व का पार्श्व है और सृष्टि उससे भौतिक साधनों या शारीरिक बल और कौशल से नहीं बल्कि उसकी शक्ति या इच्छा के प्रवाह मात्र से पैदा होती है। वह केवल जड़-तत्त्व का वह पार्श्व ही नहीं है बल्कि मन का वह पार्श्व भी है क्योंकि वह शुद्ध है और पाप से अछूता है। मन ही द्वित पैदा करनेवाली कामना द्वारा अशुद्धि और अशुभ पैदा करता है; लेकिन शाश्वत कामना के आधीन नहीं है। अशुभ या पाप है क्या ? यह सीधे रूप में अधिक सूक्ष्म की तुलना में अधिक स्थूल को, रजस् की अपेक्षा तमस् को और सत्त्व की अपेक्षा रजस् को पसंद करना है। अतः वह केवल गुणों के क्षेत्र में काम करता है और शाश्वत चूंकि गुणों से ऊपर है अतः उसे पाप छू भी नहीं सकता। उस प्रभु का, जो सृजन करता और शासन करता है, शुद्ध आलोकमय परब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित करके, जो न तो अधिष्ठाता है न अधीन, श्रुति प्रभु का वर्णन सर्व-प्राज्ञ शासक के रूप में करती है; वह कवि और मनीषी है जो अपनी आलोकित प्रेरणाओं द्वारा हिरण्यगर्भ बनकर सृजन करता है, वह सारे जगत् का अपने

अनंत मन में सृजन करता है। वह मनीषी, प्राज्ञ, बुद्धिमान् है जिसकी संतुलित चेतना के तात्त्विक द्रव्य में से समस्त सत्ता और उसके विधान अपने सतत बल और सत्ता को खींचते और अपने कार्यों की ओर प्रवाहित करते हैं और वह वह भी है जो प्रवाहित होता है। वह विराट् है, वह व्याप्त आत्मा है जो सभी वस्तुओं के अंदर प्रवेश करती और उनको घेरे रहती है। इन सभी रूपों में वह स्वयंभू है क्योंकि वह प्राज्ञ है जो अपने ही बल-बूते पर आलोकमय परब्रह्म से आता है और स्वयं परब्रह्म है। वह हिरण्यगर्भ है जो अपने ही बल-बूते पर प्राज्ञ से निकलता है और स्वयं प्राज्ञ है। वह विराट् है जो अपने ही बल-बूते पर हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होता है और स्वयं हिरण्यगर्भ है। वह आत्मा द्वारा आत्मा से उत्पन्न आत्मा है। दूसरे शब्दों में कहें तो ये सब एक ही आत्मा के विभिन्न पक्षों में नाम हैं या अनंत वैश्व चेतना की अलग-अलग स्थितियां हैं। तब फिर प्रभु को परब्रह्म से भिन्न पुल्लिंग रूप में क्यों रखा जाता है ? क्योंकि यहां उन्हें महान् शासक और व्यवस्थापक के रूप में देखा जाता है, उस रूप में नहीं जिससे सभी वस्तुएं प्रवाहित होती हैं। वस्तुओं के स्रोत, आधार और धारक के रूप में वह प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ और विराट् की त्रयी है जिसमें नर और नारी, आत्मा और जड़-पदार्थ, आत्मा और उसकी शक्ति अभी तक एक और अविभक्त हैं, इसलिये सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसके लिये नपुंसकलिंग का उपयोग किया जाये। लेकिन जब हम उसे शासक और व्यवस्थापक के रूप में देखते हैं, प्रपंचों के सृष्ट जगत् के साथ व्यवहार करनेवाले अभिव्यक्त ब्रह्म के रूप में देखते हैं तो विभाजन हो चुका होता है, शक्ति अपने कामों में लग चुकी होती है और महान् नर त्रित्व, ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर, उस शक्ति के बल से भरे हुए, अनगिनत लोकों और उनके अंदर रहनेवाले असंख्य रूपों का सृजन, पालन और विनाश करते रहते हैं। ये दोनों त्रिक सचमुच एक ही त्रयी हैं, केवल दृष्टिकोण भेद पैदा करता है। इस दृष्टिकोण से श्रुति प्रभु का वर्णन करती है। वह कवि, महान् द्रष्टा और शब्द के सच्चे अर्थों में कवि है। कवि वह है जो वस्तुओं को शुद्ध अंतर्भास द्वारा आलोकमय और स्पष्ट रूप से जान लेता है और जिसके भविष्य-कथन अपने ही उफान से सृजन बन जाते हैं।

सत्-ब्रह्म-हिरण्यगर्भ के रूप में परमात्मा में कवित्व की यह क्षमता है—जिसे मनुष्य सृजन-शक्ति कहते हैं और इसीलिये उसकी शक्ति को सरस्वती कहा जाता है। फिर ईश को मनीषी या विचारक भी कहा जाता है। ईश का विचार ही इस समस्त सृष्टि का आधार या निचला स्तर है। इसीलिये निर्जीव पदार्थ निर्दोष रूप से रूपायित होता है, वनस्पति बिना भूल के बढ़ती है, पशु अपनी मुख्य आवश्यकताओं की ओर अचूक सहज-वृत्ति से क्रिया करता है, तारा अपने मार्ग पर चलता है और पर्वत अपने आधार के साथ जड़ा रहता है। यदि अनिवार्य प्रज्ञा अपने स्थायित्व और संतुलन की विशेषताओं के साथ सभी चीजों के नीचे स्थित न होती और उन्हें अपने स्थान, क्रिया और स्वभाव के साथ न रखती तो महान् कवि के सारे सृजन अपने संबंधों में असंगत होते, एक-दूसरे के साथ टकराते और संघर्ष करते, यहाँतक कि एक-दूसरे को नष्ट कर देते। यह ध्यान रखना चाहिये कि यह प्रज्ञा वस्तुओं की अपनी प्रकृति है, यह कोई आयोजित आविष्कार, अनुबोध, समायोजन और परिवर्तन की चीज न होकर आरंभ से ही अपरिवर्तनशील और अस्तित्व का अनिवार्य आधार है। वह चाहे जो रूप ले, चाहे गुरुत्वाकर्षण, आकर्षण, विकर्षण का या विकास का, वह एक शाश्वत उपस्थिति और जगत् का निजी स्वभाव—‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ है। दिव्य नैसर्गिक विचार की यह शक्ति चित्-महादेव-प्राज्ञ (तमस्, स्थानु) रूप में परमात्मा का एक गुण है। उसका दूसरा गुण है विनाश का, क्योंकि वह अमरता की आत्मा है जिसकी परिपूर्ति है पूर्ण अप्रतिबद्ध विचार की गहरी निद्रा (चित्) और अगर शाश्वत में कवि की क्रियाशीलता न होती, यदि उसके अंदर मनीषी कवि को मिटा देता तो आभासों का यह समस्त धबकता हुआ जगत् चुप हो जाता और निष्क्रियता द्वारा अनिर्धारित, घनीभूत सत्ता के गर्भ में लौट जाता। और फिर वह परिभू है, वह जिसका अस्तित्व चारों ओर है, सत्ता का महान् व्यापक आनंद। क्योंकि कवि के कार्य, भले मनीषी उन्हें सहारा दे, कभी न टिक पाते यदि सत्ता का आनंद सभी सृष्ट वस्तुओं में स्वर्गिक मधु की धारा की तरह न उंडेला जाता और प्राण तथा सत्ता को अपनी प्रथम अनिवार्य आवश्यकता न बना देता। यह जर्मन दार्शनिक की जिजीविषा है,

जो अन्य सभी यूरोपीय लोगों की तरह सत्य के केवल एक अंग को ही देख पाया, दिव्य समग्र के रूप में नहीं; इसी कारण उसके विचारों में इतनी निराशाजनक ध्वनि है। यह आनंद सभी चीजों को सहारा देता और शाश्वत बनाता है, क्योंकि यह अपरिवर्तनशील और शाश्वत परमात्मा है। सांत रूप में प्रकट होकर जीवित रहने की इच्छा तो उसे अनंत जीवन में जीने की इच्छा में विस्तृत करना चाहिये ताकि वह अपने-आपको परिपूर्ण कर सके और अपनी गहनतम और तात्त्विक प्रकृति को फिर से पा सके। पहले हम व्यक्ति के रूप में जीने की इच्छा करते हैं फिर परिवार में जीने की, फिर कुल या वंश में, फिर जाति या राष्ट्र में जीने की, फिर मानवजाति में, फिर विश्व में जीने की, फिर भगवान् में जीने और फिर शाश्वत में जीने की। यह मानवजाति का स्वाभाविक विकास है और उसका मार्ग स्वयं आत्मा के स्वभाव द्वारा निर्धारित होता है। विज्ञान या अपरा विद्या हमारे लिये विकास के मार्ग और उसके उपनियमों का आलेखन करती है परंतु केवल परा विद्या ही उसे हमारे लिये संस्थापित करती, हमें उसका कारण, मूल, विधान और परिपूर्ति प्रदान करती है। यह आनंद विष्णु-विराट् की सामर्थ्य है जो आनंद है। सभी सत्ताओं के अंदर अस्तित्व मात्र से ईश उनका पोषण और उनकी रक्षा करता है। याद रखो कि भले तुम अपने दुःख-दैन्य के समय सहायता के लिये स्वर्ग को टेर लगाओ फिर भी नील गगन तुम्हारी पुकार न सुनेगा। तुम्हारे बाहर से कोई चीज तुम्हारी रक्षा करने नहीं आती बल्कि वह जो तुम्हारे अंदर आसीन है वही रक्षा कर सकता है। हे मानव, क्या तू नर पिशाच, राक्षस, भूत या शत्रु से पीड़ित है? अपने अंदर उसकी महान् शक्ति, भवानी महिषमर्दिनी को खोज और वे विजयी असुर को कुचलने के लिये खड़्ग और त्रिशूल से लैस होकर प्रकट होंगी। यही विधान है और यही है वेद-वाक्य। कवि, मनीषी और विभु ये तीनों स्वयंभू हैं जो अपने ही द्वारा, अपने अंदर से और अपने अंदर जन्म लेता है। देवता एक-दूसरे से भिन्न नहीं, वे सब एक ही देव हैं, कोई दूसरा नहीं है। यही वह है जिसने शाश्वत काल से सभी चीजों को पूरी तरह व्यवस्थित किया है, याथातथ्यतः, हर एक को ठीक उसी तरह जैसा अपने स्वभाव के कारण होना चाहिये, क्योंकि

किसी चीज का स्वभाव ही उसका मूल, उसका विधान, उसकी नियति और उसका अंत है और अपने स्वभाव के साथ सामंजस्य ही उसकी पूर्णता है। यह समस्त महान् विश्व, जिसमें विभिन्न वस्तुएं अपने विभिन्न स्वभावों के अनुसार सुसंगत होती हैं और पूर्ण ऐक्य में घुल-मिल जाती हैं, उसने अनेकविध पक्षोंवाले एकमात्र विधान के अद्भुत राज्य को 'व्यदधात्' विभिन्न रूपों में व्यवस्थित किया है। उसने हर चीज को उसके अपने स्थान पर बैठाया है जहां वह अपने ही घेरे में और अपने विजयी और कठोर स्वभाव के अनुसार कार्य में लगी हुई है। वह यह सब शाश्वत काल से करता आया है, काल की किसी विशेष तारीख या ऋतु में नहीं शाश्वत रूप से, काल से भी पहले से करता आया है। दिव्य विधान अचानक अस्तित्व में नहीं आ गया बल्कि वह था, है और हमेशा रहेगा। यह सच है कि वस्तुओं के रूप काल में बदलते रहते हैं लेकिन उनकी प्रकृति के विधान का मूल शाश्वत है। आज तुम जो काम करते हो उसमें तुम उस विधान का अनुसरण करते हो जो समस्त शाश्वतता से चला आ रहा है। उसे अनुभव करने की कोशिश करो और तुम देखोगे कि देश और काल अनंतता में लुप्त होते जा रहे हैं। तुम शाश्वत जलों का गर्जन सुनोगे और जलों के ऊपर सदा चिल्लाते हुए 'तपस् तपस्' की आवाज सुनोगे और अपने-आपको एक अपरिवर्तनशील, शाश्वत भगवान् की उपस्थिति में अनुभव करोगे। माया और उसके कार्यों का कहीं अंत नहीं होता क्योंकि उनका कहीं आरंभ नहीं था। परंतु मनुष्य की आत्मा माया और उसके कार्यों से ऊपर उठ सकती है और उससे स्वतंत्र, उसके ऊपर खड़ी उसका निरीक्षण उस मालिक की तरह कर सकती है जिसकी प्रसन्नता के लिये वह शाश्वत परिश्रम करती है। क्योंकि सचमुच मनुष्य भगवान् है और उसने अपनी ही इच्छा से अपने-आपको मायाविनी के काल्पनिक जाल में बांध रखा है; उसी तरह अपनी इच्छा से ही वह बंधनों को तोड़कर उसपर शासन कर सकता है। माया के साथ आत्मा का खेल प्रेमी और प्रेमिका के खेल जैसा है जिसमें एक दूसरे का दास होने का स्वांग भरता है, उसकी कृपा में आनंद लेता है या उसके क्रुद्ध होने पर उसके चरणों में रोता है और फिर स्वामी और अधिपति के रूप में अपना उचित स्थान ले लेता है। हां, जब मरजी हो तो उसकी ओर से किसी अधिक सुंदर और अद्भुत मुखड़े की ओर मुड़ जाता है। अभी कृष्ण नीलांबर

और चमकदार आभूषण पहने होता है और अभी राधा पीताम्बर और हरित वन की सुगंधित मालाओं और चमकदार मयूर पंख में दिखायी देती है क्योंकि कृष्ण ही राधा हैं और राधा ही कृष्ण हैं। वे केवल भेद की लीला कर रहे हैं क्योंकि वास्तविक सत्य तो यह है कि राधा और कृष्ण सदा एक रहे हैं और शाश्वत कालतक एक रहेंगे।

शिष्य—तो ऐसा लगता है कि उपनिषद् का पहला भाग यहांपर समाप्त हो गया और अब कुछ धुंधले और असंबद्ध वचन आ रहे हैं।

गुरु—उपनिषद् के वचन कभी असंबद्ध नहीं होते लेकिन बहुधा उनका संबंध ऊपरी तल के नीचे होता है। सुस्पष्ट वक्तव्य या व्याकरण-मूलक वाक्य-विन्यास द्वारा उनकी खुले आम घोषणा नहीं की जाती। उपनिषद् ने कहा है कि शाश्वत ने विश्व की सभी वस्तुओं को शाश्वत काल से पूर्णतया व्यवस्थित कर रखा है। अतः माया शाश्वत है, अविद्या शाश्वत है। इसपर झट यह प्रश्न किया जायेगा कि विद्या और अविद्या के बारे में, शाश्वत और क्षणभंगुर के बारे में क्या ? अस्ति और प्रतीति के बारे में क्या ? अगर अविद्या शाश्वत है तो चलो हम उसके विस्मयों और उसकी महानताओं में रस लें और उसके बंधनों से छूटने की कभी कोशिश न करें। लेकिन अगर केवल विद्या ही शाश्वत है और अविद्या एक अभिशाप और बंधन है तो हमें उससे क्या मतलब, जितनी जल्दी हो सके हम उसे घृणा से झाड़ फेंकें ? ये जड़वादी और नास्तिक, चार्वाक और शून्यवादी की पराकाष्ठाएं हैं; लेकिन वेदांत इनमें से किसीको स्वीकार नहीं करता। असीम ब्रह्म है लेकिन ससीम के लिये भी हम यह नहीं कह सकते कि वह नहीं है और ससीम ब्रह्म को ही हम माया कहते हैं। ब्रह्म शाश्वत है अतः माया भी शाश्वत है; लेकिन ससीम ब्रह्म स्पष्टतः असीम पर आश्रित है और उसके अंदर निवास करने की जगह और कहीं वह रह ही नहीं सकता। जैसे किसी सिक्के के चित और पट होते हैं उसी तरह असीम और ससीम हैं और ज्ञान की अभीप्सा करनेवाले को दोनों को जानना चाहिये, केवल एक को नहीं अन्यथा वह शाश्वत की सच्ची प्रकृति के बारे में वस्तुतः कुछ न जान पायेगा।

शिष्य—अद्वैतवाद के अनुयायी इसे नितांत नास्तिकता कहेंगे। माया भ्रान्ति और अवास्तविकता है और ज्ञान उसकी हत्या करता है, अतः वह शाश्वत नहीं हो सकती।

गुरु—तुम माया का हनन नहीं कर सकते। तुम केवल मोह, माया की भ्रांति का हनन कर सकते हो। उसे तो तुम केवल जीतकर अपने पैरों तले रख सकते हो। तुम्हें याद है कि शंकर ने उभय-भारती को हराकर उसके जीवित शरीर को ध्यान के लिये अपना आसन बनाया था। यह योगी का प्रतीक और शाश्वत की दोहरी अद्भुत माया है। उसने माया को जीतकर अपने आधीन रख लिया, फिर भी वह शाश्वत के साथ एक होकर और माया के बारे में अचेत होकर भी आसन उसीपर जमाता है। अगर ऐसा न होता तो किसी मनुष्य के बुद्ध बनकर निर्वाण में जाते ही सारा आयासी जगत् समाप्त हो जाता क्योंकि वह और शाश्वत एक हैं। इसलिये अगर परब्रह्म विद्या या अविद्यातक ही सीमित होता तो स्पष्टतः विद्या के आरंभ के साथ-ही-साथ अविद्या समाप्त हो जाती और एक जीवात्मा की मुक्ति सबके लिये जगत् का अंत ले आती। वैसे ही जैसे ईसाई मानते हैं कि ईसा के सलीब पर चढ़ने से सारे जगत् का निस्तार हो गया। लेकिन बात ऐसी नहीं है। ब्रह्म की शक्ति की सामर्थ्य दोहरी और युगपत् है। वह विद्या और अविद्या दोनों का उपयोग एक ही समय कर सकता है। वह सदा-सर्वदा अपनी परात्पर प्रकृति का अनुभव करता है और साथ-ही-साथ अपनी कल्पना के इस अद्भुत जगत् को कार्यान्वित करता है। वह एक महाकवि की तरह है जो अपनी ही सृष्टि के एक जगत् को प्रतिबिंबित करता है जिसे उसने स्वयं अपने में से और अपने अंदर रचा है और फिर भी यह जानता है कि वह उससे भिन्न और स्वतंत्र है। इसी कारण किसी एक जीवात्मा की मुक्ति जगत् का अंत नहीं कर देती। स्वयं शंकर भी इससे भिन्न कुछ नहीं कहते क्योंकि वे यह प्रतिपादित नहीं करते कि माया अवास्तविक है। वे कहते हैं कि यह कोई रहस्यमय वस्तु है जिसके लिये तुम यह नहीं कह सकते कि यह है और यह भी नहीं कह सकते कि वह नहीं है। असीम, परम, अज्ञेय ब्रह्म की इस रहस्यमय शक्ति की ससीम मन बस यही व्याख्या कर सकता है। अपने रूपों में माया अवास्तविक और क्षणिक हो सकती है लेकिन तत्त्वतः माया शाश्वत की शक्ति है और उसे भी शाश्वत होना चाहिये—पुरा काल से और सदा के लिये।^१

^१ ईशावास्योपनिषद् का यह लेख श्रीअरविंद के बहुत पुराने लेखों में मिला था।

सूत्रों में उपनिषद्

ईश उपनिषद्

जो कुछ गति करता है और जो गति नहीं करता वह सब ईश के लिये आवास है।

तू यह क्यों कहता है कि एक जगत् है ? कोई जगत् नहीं है। केवल एकमेव है जो गति करता है।

जिसे तू जगत् कहता है वह काली की गति है; इस भांति अपनी सत्ता का आलिंगन कर। अपनी सर्वालिंगनकारी दृष्टि की नीरवता में तू पुरुष है और वह है जो निवास करता है; अपनी बाहरी गति और क्रिया में तू प्रकृति और आवास का रचयिता है। अपनी सत्ता को इस तरह से देख।

इस गति की बहुत-सी ग्रंथियां हैं और तेरी आंखें हर ग्रंथि को एक विषय के रूप में देखती हैं, बहुत-सी लहरें हैं और तेरा मन हर लहर को शक्ति और प्रवृत्ति के रूप में देखता है। शक्तियां और विषय काली के रूप हैं।

हम उसके हर रूप को एक नाम देते हैं। यह नाम क्या है ? वह शब्द है, वह ध्वनि है, वह सत्ता का स्पंदन है, अनंतता का बालक और मानसिक भाव का पिता है। रूप के होने से पहले, नाम और भाव का अस्तित्व रहा होगा।

अर्द्ध-प्रबुद्ध कहते हैं, “जो भी रूप बनाया जाता है, ईश उसमें निवास करने के लिये प्रवेश करता है;” परंतु द्रष्टा जानता है कि ईश अपनी सत्ता में जो भी देखता है वही भाव बन जाता है और एक रूप तथा आवास की खोज करता है।

विश्व अनंत सत्ता में लयबद्ध स्पंदन है जो अपने-आपको बहुत-से सामंजस्यों में गुणित करता है और उन्हें गति के मूल प्रारूप में सुव्यवस्थित रखता है।

तू एक पत्थर को देखता और कहता है “यह स्थिर है।” वह ऐसा ही

है, परंतु केवल इंद्रिय-अनुभव के लिये। देखनेवाली आंख के लिये वह गति में से बना और गति से ही रचित है। उसे रचनेवाली आणविक गतियों की व्यवस्थित पुनरावृत्तियों में उसकी नीरवता का आभास छिपा है।

समस्त स्थिरता लय का निर्धारित संतुलन है। लय को क्षुब्ध कर दो तो स्थिरता विलीन होकर अस्थिर बन जायेगी।

कोई-सी भी लय हमेशा स्थिर नहीं रह सकती; अतः विश्व हमेशा ठाठे मारता हुआ सागर है और उसमें हर चीज परिवर्तनशील और क्षणभंगुर है। प्रकृति में हर चीज तबतक बनी रहती है जबतक उसमें काली का प्रयोजन पूरा न हो जाये; और तब वह विघटित हो जाती है तथा किसी और सामंजस्य के घटक में बदल जाती है।

प्रकृति शाश्वत है परंतु हर विश्व चलायमान है। विश्व का तथ्य हमेशा बना रहता है, लेकिन वस्तुओं का कोई विशेष जगत् हमेशा नहीं रहता क्योंकि प्रत्येक विश्व अनंत संभव गतियों में से एक लय मात्र है। प्रकृति के अंदर या प्रकृति की जो भी पद्धति पूरी तरह क्रियान्वित हो चुके उसे एक नये सामंजस्य को स्थान देना पड़ता है।

फिर भी अपनी तात्त्विक सत्ता में सारा जगत् और जगत् की हर चीज शाश्वत है क्योंकि सारी तात्त्विक सत्ता ब्रह्म है जिसका कोई आदि-अंत नहीं।

नाम और रूप भी ब्रह्म और शाश्वत हैं लेकिन जगत् में उनकी अनंतता अविच्छिन्न अचलता की नहीं, पुनरावृत्ति की अनंतता है। हर रूप और हर भाव जो एक बार हो चुका है, उसका अब भी अस्तित्व है और वह फिर से आ सकता है। हर होनेवाला रूप या भाव अब भी अस्तित्व रखता है और आदि से चला आ रहा है। काल अस्तित्व की स्थिति नहीं, गति की परिपाटी है।

जो काली के रूपों में निवास करता है वह आत्मा और गति का ईश है। पुरुष प्रकृति का स्वामी है, उसकी प्रजा नहीं है। आत्मा रूप और क्रिया का निर्धारण करती है, उनके द्वारा निर्धारित नहीं होती। आत्मा अपने ज्ञान में प्रकृति की क्रियाशीलता को प्रतिबिंबित करती है, लेकिन केवल उन क्रियाशीलताओं को जिन्हें शुरू करने के लिये स्वयं उसने प्रकृति को बाधित किया है।

शरीरस्थ आत्मा शरीर की स्वामिनी है। उसके विधानों के आधीन या उसकी अनुभूतियों से सीमित नहीं है।

आत्मा मन और उसकी क्रियाओं से नहीं बनी है, क्योंकि ये भी प्रकृति के अंग और गतियां मात्र हैं।

मन और शरीर हमारे अंदर स्थित प्रच्छन्न और सर्वज्ञ शक्तिमान् आत्मा के उपकरण हैं।

शरीरस्थ आत्मा देश में शरीर से सीमित या मन में अनुभूति से सीमित नहीं है। समस्त विश्व उसका आवास है।

वस्तुओं की केवल एक ही आत्मा है, विभिन्न रूपों में केवल एक अंतरात्मा। शरीर और मन द्वारा मैं अपने भाई या प्रेमी से भी अलग हूं लेकिन शरीर और मन का अतिक्रमण करके मैं सत्ता और अनुभव में सभी चीजों के साथ एक हो सकता हूं, पत्थर और पेड़ के साथ भी।

मेरी वैश्व आत्मा को मेरे व्यष्टिगत मन और शरीर से सीमित होने की उसी तरह जरूरत नहीं है जैसे मेरी व्यष्टिगत चेतना मेरे शरीर के एक कोषाणु के अनुभव से सीमित नहीं रहती। हमें काराग्रस्त करनेवाली दीवारों को प्रकृति ने अपनी गति में बनाया है और उनका अस्तित्व केवल उसके निचले राज्यों में है। जैसे-जैसे तुम ऊपर उठते हो वे केवल परंपरागत सीमाएं रह जाती हैं जिन्हें तुम हमेशा लांघ सकते हो और शिखर पर वे हमारी वैश्व चेतना में केवल कक्षों के चिह्न लगाती हैं।

अंतरात्मा हिलती-डुलती नहीं है, परंतु प्रकृति की गति पूर्ण नीरवता में होती है।

प्रकृति की गति वास्तविक या भौतिक गति नहीं है, अपितु वह है अंतरात्मा की आत्म-चेतना का स्पंदन।

प्रकृति चित्-शक्ति है, ईश की आत्म-अभिज्ञता प्रकट करनेवाली शक्ति है जिसके द्वारा वह अपने अंदर जो कुछ भी देखे वह चेतना का रूप बन जाता है।

प्रकृति में हर चीज एक ही आत्मा की संभूति है जो एकमात्र सत् है। हम और प्रकृति में सभी चीजें भगवान् की संभूतियां—सर्वभूतानि—हैं।

यद्यपि जगत्-अनुभव के लिये विश्व में बहुत-सी आत्माएं (पुरुष) हैं लेकिन ये सब एक ही पुरुष हैं जो उसकी चेतना के अनेक रूपों में आच्छादित है।

हर एक अंतरात्मा अपने-आपमें पूर्णतया भगवान् है। अंतरात्माओं का हर दल सामुदायिक भगवान् है। प्रकृति की गतिविधि की रूपात्मकताएं उनमें विभाजन और बाहरी भेद पैदा करती हैं।

भगवान् जगत् का अतिक्रमण करते हैं और प्रकृति के किसी विधान से बंधे हुए नहीं हैं। वे विधानों का उपयोग करते हैं, विधान उनका उपयोग नहीं करते।

भगवान् जगत् का अतिक्रमण करते हैं और जगत् में चेतना की किसी स्थिति-विशेष से बंधे हुए नहीं हैं। न वे ऐक्य-चेतना हैं न बहुल-चेतना, न व्यक्तित्व हैं न निर्वैयक्तित्व, न स्थिरता न गति, परंतु युगपत् रूप से अपनी परम सत्ता की इन सभी आत्माभिव्यक्तियों को अपने अंदर समाविष्ट किये हुए हैं।

भगवान् युगपत् रूप से जगत् का अतिक्रमण करते हैं, उसे समाविष्ट करते और अनुप्राणित करते हैं। शरीरस्थ आत्मा भागवत चेतनातक पहुंच सकती और एक ही साथ उसके विश्व को पार करती, धारण करती और अनुप्राणित करती है।

भागवत चेतना जगत्-चेतना से अलग नहीं है, प्रकृति आत्मा के लिये अस्पृश्य नहीं है बल्कि उसका बिंब है। जगत् एक मिथ्यात्व नहीं है जो ब्रह्म का प्रतिवाद हो, बल्कि वह दिव्य अस्तित्व का प्रतीक है।

भगवान् प्रकृति का पट हैं और प्रकृति भगवान् की चित् दिशा है।

चूंकि शरीरस्थ आत्मा शाश्वत और अविच्छेद्य रूप से मुक्त है अतः उसके अहंकार की दासता, शारीरिक प्रकृति के विधान, मानसिक प्रकृति के विधान, सुख-दुःख के विधान, जीवन-मृत्यु के विधान वास्तविक बंधन न होकर आभासी बंधन ही हो सकते हैं। हमारी जंजीरें या तो लीला हैं या आभास या फिर लीला और आभास दोनों।

हमारी आभासी दासता का रहस्य है आत्मा की लीला जिससे वह प्रकृति की गतिविधि में तन्मय होकर भागवत चेतना को भूल जाना स्वीकार करती है।

प्रकृति की गतिविधि सप्तधा प्रवाह है, प्रत्येक सरिता गति के अपने ही विधान के अधीन है परंतु प्रत्येक के अंदर बाकी छः बहनें या सखियां प्रच्छन्न, प्रकट या अर्ध-प्रकट रूप से समायी हुई हैं।

प्रकृति बनी है सत्, चित् या तपस्, आनंद, विज्ञान, मानस, प्राण और अन्न से।

अंतरात्मा या पुरुष अपने-आपको इनमें से किसी भी तत्त्व में आसीन कर सकता है और स्थिति के अनुसार उसका दृष्टिकोण बदलता है और वह एक भिन्न जगत् को देखता है। समस्त जगत् केवल आत्मा की व्यवस्थित और सुसंगत दृष्टि है।

भगवान् जिसे देखते हैं, उसका अस्तित्व है, जिसे वे व्यवस्था और सामंजस्य के साथ देखते हैं वह जगत् बन जाता है।

सात लोक हैं; सत्य—शुद्ध सत्ता का, तपस्—शुद्ध इच्छा या शक्ति का, जन—शुद्ध आनंद का, महस्—शुद्ध भाव का, स्वर्—शुद्ध मानसिकता का, भुवर्—शुद्ध प्राण का, भूर्—शुद्ध जड़तत्त्व का।

सत् में आत्मा है सत्ता का शुद्ध सत्य और वह अपने-आपको जगत् की बहुलता में एक के रूप में देखती है।

तपस् में आत्मा है भागवत इच्छा और ज्ञान की शुद्ध शक्ति और वह विश्व पर सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता से अपने ही प्रसारित स्व के रूप में अधिकार रखती है।

आनंद में आत्मा शुद्ध आनंद है और वह अपने-आपको वैश्व आत्म-सृजन और अमिश्र सत्ता के आनंद में वर्धित करती है।

महस् में आत्मा शुद्ध भाव होती है, वह अपने-आपको बहुलता में व्यापक ऐक्य की व्यवस्था और सुसंगति में देखती है, सभी चीजें अपने ऐक्य में, हर चीज अपने उचित स्थान, समय और परिस्थिति में होती है। वह संस्कारों के अत्याचार के आधीन नहीं होती। वह जिन विषयों को जानती है उन्हें अपने अंदर धारण करती और समझती है।

मानस में आत्मा शुद्ध मानसिकता होती है और पृथक् विषयों के शुद्ध संस्कार को ग्रहण करती और उनके कुलयोग से समग्रता का संस्कार पाती

है। मानस ही नापता, सीमित करता और विभक्त करता है।

प्राण में आत्मा शुद्ध प्राण होती है और अपने-आपको विभिन्न प्राण-ऊर्जा में उंडेलती है।

अन्न में आत्मा शुद्ध जड़-तत्त्व होती है और चेतना के रूप में चेतना की शक्ति को भूल जाती है।

जड़ पदार्थ सोपान की सबसे निचली सीढ़ी है और जो आत्मा जड़ पदार्थ में उतर आती है वह अपनी गुप्त प्रकृति और अनिवार्य आत्म-प्रेरणा द्वारा फिर से रूप में से शुद्ध वैश्व सत्ता की मुक्ति की ओर प्रवृत्त होती है। ये ही दो गतियां हैं जो जगत्-सत्ता पर शासन करती हैं; एक है अधोगति, यानी जड़ पदार्थ या केवल रूप की ओर उतार और एक ऊर्ध्वगति, यानी आत्मा और भगवान् की ओर आरोहण।

मनुष्य मानसिक सत्ता है, मनु या मनोमय पुरुष, जो प्राणिक भावापन्न भौतिक शरीर में प्रविष्ट हुआ है और वह उसे अनंत मानसिकता, अनंत आदर्शवादिता के योग्य बनाने की कोशिश में है ताकि वह अभिव्यक्त सच्चिदानंद का पूर्ण यंत्र, आसन और मंदिर बन सके।

जड़ भौतिक जगत् में मन दो प्रकार के ज्ञान की ओर ध्यान देता है—बाहर से आनेवाले आघात, शारीरिक या मानसिक, जिन्हें व्यक्तिगत मानसिकता में ग्रहण करके मानसिक मूल्यों में अनूदित किया जाता है और भीतर से, आध्यात्मिक, आदर्शात्मक या मानसिक आघात, जो इसी तरह अनूदित किये जाते हैं।

जड़ भौतिक शरीर उन सभी आघातों को पाते हैं जिन्हें मन प्राप्त करता है, लेकिन व्यवस्थित मानसिकता से वंचित होने के कारण वे उन्हें केवल जड़ भौतिक में अंतर्लीन मन के अंदर धारण करते हैं और उन्हें मानसिक प्रतीकों में अनूदित करने में अक्षम होते हैं।

हमारे शरीर स्वभावतः प्राण और मन द्वारा चालित जड़ भौतिक शरीर होते हैं। वे भी सभी आघात तो पाते हैं पर उनमें से सभी मानसिक मूल्यों में अनूदित नहीं होते। जो अनूदित होते हैं उनमें से कुछ पूरी तरह और कुछ अधूरी तरह, कुछ तुरंत और कुछ जड़ में अंतःस्थ मन के अंदर कम या

अधिक परिपाक काल के बाद। आंतरिक ज्ञान के साथ भी ऐसी ही बदलती हुई स्थितियाँ आती हैं। इस प्रकार वह समस्त ज्ञान जो इस तरह यहाँ मानसिक मूल्यों में अनूदित होता है, हमारी जाग्रत् चेतना के पदार्थ की रचना करता है। मनोमय पुरुष जब इस जाग्रत् चेतना को अपने ही रूप में स्वीकार कर लेता और एक केंद्रीय अहं-भाव के चारों ओर व्यवस्थित करता है, तो वही जाग्रत् अहंकार बन जाता है।

जीव या शरीरस्थ मनोमय पुरुष अपनी चेतना में जाग्रत् अहंकार से बहुत अधिक विस्तृत होता है। उसके पास भूत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञान और अनुभव का विस्तृत क्षेत्र होता है। दूर और नजदीक, इस जीवन और अन्य जीवन, इस लोक और अन्य लोकों का ऐसा ज्ञान होता है जो जाग्रत् अहं को प्राप्त नहीं होता। जाग्रत् अहं बहुत-सी चीजें देखने में असफल रहता है और बहुत-सी देखी हुई चीजें भूल जाता है। जीव सभी अनुभूतियों को देखता और याद रखता है।

जो कुछ हमारे जाग्रत् मन के स्तर से नीचे हमारी प्राणिक ऊर्जा और शरीरों में चलता रहता है वह जगत् में हमारी अवचेतन आत्मा है, जो कुछ हमारे जाग्रत् मन के स्तर के ऊपर हमारे मन तथा उच्चतर तत्त्वों में चलता रहता है वह हमारी अतिचेतन आत्मा है। प्रायः जाग्रत् अहं को इन दोनों स्थानों से न्यूनाधिक रूप से धुंधली सूचनाएं मिलती रहती हैं जिनके मूल को वह नहीं खोज पाता।

मनुष्य उसी अनुपात में प्रगति करता है जिस अनुपात में वह अपनी चेतना को विस्तृत करता है और जाग्रत् चेतना के आनंद और दर्शन के लिये प्राप्य सूक्ष्मतर अनुभूतियों को विस्तार देता है और उस अनुपात में जिसमें वह मन के उच्चतर विस्तारों तक और मन के परे आदर्शत्व और आत्मातक चढ़ पाता है।

मनुष्य की प्रगति और आत्म-परिपूर्ति का सबसे तेज और प्रभावकारी तरीका है अपने जाग्रत् अहंकार को अनंत चेतना के आनंद में विलीन कर देना, पहले वैश्व मनोमय पुरुष के मन में, लेकिन बाद में उच्च विज्ञान और उच्चतम सच्चिदानंद के आदर्श और आध्यात्म में।

अतः सारे व्यावहारिक वेदांत का पहला लक्ष्य है शरीर में जाग्रत् मानसिक अहंकार का अतिक्रमण और विलोपन ।

इस अतिक्रमण और विलोपन का परिणाम या तो जाग्रत् स्व की हानि या किसी स्वप्निल तत्त्व में लौट जाना हो सकता है—समरूप प्रकृति, सुषुप्त पुरुष, शून्य-ब्रह्म (निहिल) आदि में या फिर आत्मा के लोक का परब्रह्म में विलय होने में या जाग्रत् आत्मा और भगवान् की दिव्य सत्ता के आनंद का जगत् के अंदर और उसके बाहर—अमृतम्—में वैश्वभावापन्न होनेमें । ईश उपनिषद् इस अंतिम को ही मनुष्य के लक्ष्य के रूप में प्रस्तावित करता है ।

जाग्रत् अहं जीव को अपने शरीर, प्राण और मन की अनुभूतियों के साथ तदात्म करता है यद्यपि ये प्रकृति की धारा की गति के भाग और प्रकृति के अधीन और उसकी गति की प्रक्रियाएं हैं । जाग्रत् अहं भूल से आत्मा को प्रकृति के आधीन मानता है जो ईश नहीं अनीश है । यह बंधन की भ्रांति है जिसे मनोमय पुरुष या तो स्वीकार कर लेता है या नष्ट करना चाहता है । जो उसे स्वीकार कर लेते हैं वे बद्ध जीव और जो उसे नष्ट करना चाहते हैं वे मुमुक्षु जीव और जो उसे नष्ट कर लें वे मुक्त जीव या ऐसी आत्माएं कहलाते हैं जो भ्रांति और सीमाओं से मुक्त हैं ।

वास्तव में कोई भी आत्मा बद्ध नहीं है अतः कोई भी मुक्ति की चाह करता हुआ या बंधन-मुक्त नहीं है । ये सब जाग्रत् मन की अवस्थाएं हैं, आत्मा या स्व की नहीं जो शाश्वत ईश और मुक्त है ।

बंधन का सारतत्त्व है सीमा और सीमा की मुख्य स्थितियां हैं मृत्यु, दुःख और अज्ञान ।

मृत्यु, दुःख और अज्ञान प्राण से अभिभूत शरीर में मन की परिस्थितियां हैं और विज्ञान, आनंद सत् और चित् में आत्मा की चेतना को छूतीतक नहीं । तीन निचले अंगों—मन, प्राण और शरीर का मेल इसीलिये अपरार्द्ध कहलाता है, इसे ईसाई भाषा में निचला, मृत्यु और पाप का राज्य कहते हैं । चार ऊपरी अंग परार्द्ध कहलाते हैं जो उच्चतर राज्य या ईसाई भाषा में स्वर्ग का राज्य है । ईश उपनिषद् में द्रष्टा, ऋषि का उद्देश्य है मनुष्य को मृत्यु, दुःख और अज्ञान से मुक्त करना और उसपर उच्चतर राज्य की सर्वानंदमयी और ज्योतिर्मयी प्रकृति को आरोपित करना ।

जाग्रत् अहं को ईश की दिव्य सत्ता में मिला देने और अन्य सभी सत्ताओं के साथ तथा उसके साथ जो भगवान्, आत्मा और ब्रह्म है, पूर्ण एकत्व का अनुभव करके ही इस मुक्ति को संपन्न किया जा सकता है।

सभी व्यक्तिगत सत्ताएं जगती में जगत् हैं, गतिविधि की धारा में गति के विषय हैं और वे उस गति के नियमों तथा उसकी पद्धतियों का पालन करती हैं।

जड़ भौतिक चेतना की सरिता में शरीर गति का एक विषय है जिसका मुख्य विधान है जीवन और मरण। अतः सभी शरीर रचना और विघटन के आधीन हैं।

जीवन शाश्वत प्राण-ऊर्जा से बनी प्राणिक चेतना की धारा में गति की एक लहर है। जीवन अपने-आप मृत्यु के आधीन नहीं है—क्योंकि मृत्यु प्राण-ऊर्जा का विधान नहीं है—वह उस रूप में से निष्कासन के आधीन है जिसपर वह कब्जा किये हुए है, अतः शरीर की मृत्यु के भौतिक अनुभव के आधीन है।

यहां समस्त जड़तत्त्व क्रिया की न्यूनाधिक तीव्रतावाली प्राण-ऊर्जा से भरा है, लेकिन व्यक्तिगत सजीवता में जीवन की व्यवस्था बाद में जड़ भौतिक जगत् की प्रक्रिया में पहले वनस्पति फिर पशु के प्रकट होने से शुरू होती है। प्राण का यह विकास भूलोंक के प्राणमय जगत् पर भुवर् लोक के देवों के दबाव की वजह से शुरू होता और उन्हींसे सहारा पाता है।

शरीर में प्रवेश करता हुआ जीवन अंशतः शरीर के विधानों के आधीन होता है; अतः वह अपने रूपों को अपनी पूर्ण और अविच्छिन्न ऊर्जा दे सकने में असमर्थ होता है। परिणाम-स्वरूप भौतिक अमरता नहीं होती।

व्यक्तिगत सजीव प्राण की व्यवस्था एक ऐसी शक्ति के आघातों की तीव्रता को लाकर विघटन के काल को द्रुततर बना देती है जो शक्ति जड़तत्त्व के लिये विजातीय होती है, जो भौतिक रूप को क्रिया से क्षीण कर देती है। इसी कारण पौधा विलुप्त हो जाता है जब कि पत्थर और धातु अपने संतुलन में बने रहते हैं।

प्राणिक-भावापन्न शरीर में प्रवेश करता हुआ मन शरीर पर अपने स्पंदनों

की उच्चतर मांगों द्वारा विलय के काल को और भी जल्दी लाने के लिये प्रवृत्त होता है।

मन मानसिक चेतना की धारा में एक ग्रंथि है। प्राण की तरह वह स्वयं भी मृत्यु के आधीन नहीं है बल्कि वह जिस प्राणिक शरीरमें निवास करता है उससे केवल निष्कासित हो सकता है। लेकिन चूंकि मानसिक अहंकार अपने-आपको शरीर के साथ तदात्म कर लेता है और अपने जीवन का अर्थ इस वर्तमान मर्त्य, स्थूल दैहिक शरीर में निवास ही समझता है, इसीलिये उसे शारीरिक मृत्यु का मानसिक अनुभव होता है।

अतः मृत्यु का अनुभव बाह्य मर्त्य मन के अपनी सच्ची अमर प्रकृति के बारे में अज्ञान और शरीर में ऊर्जा की सीमा के मेल से होता है जिसके कारण हम जिस रूप में निवास करते हैं वह स्पंदित होती हुई प्राण-ऊर्जा और स्पंदित होती हुई मानसिकता के आघातों से क्षीण होता जाता है। मृत्यु से हमारा मतलब प्राण या मन से नहीं बल्कि शरीर और रूप के विघटन से होता है।

मनुष्य कहानेवाले मनोमय पुरुष के लिये शरीर का विघटन सचमुच मृत्यु नहीं होता। यह केवल चेतना के पर्यावरण और परिवेश का परिवर्तन होता है। शरीर का जड़-पदार्थ अपने घटक और समूहन बदलता है, मानसिक सत्ता अपने तत्त्व तथा व्यक्तित्व दोनों में बनी रहती है तथा अन्य रूपों तथा परिसरों में चली जाती है।

ईश का रहस्य

अब हजारों वर्ष बीत चुके हैं कि मनुष्यों ने वेद और उपनिषद् के लिये वेद और उपनिषद् का अध्ययन बंद कर दिया है। जबसे भारतवर्ष का मानव मन अधिकाधिक बौद्धिक होता गया, तर्क और बौद्धिक तर्कणा की गौण प्रक्रिया के व्यसन में पड़ गया, वह अनुभव और प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा ज्ञान की सच्ची और आदि प्रक्रिया से दूर खिंचता गया, तबसे वह प्राचीन वैदिक सत्य के बहुमुखी सामंजस्य को विभाजित और अव्यवस्थित करके, उसमें से विचार के अनेक संप्रदाय और तत्त्वमीमांसा के सिद्धांत तराशने लगा। वह शास्त्रों के प्राचीन सत्य की जगह बाद के सूत्रों और भाष्यों में ज्यादा व्यस्त रहा। वेद और वेदांत ज्ञान के पथ-प्रदर्शक नहीं रहे, वे केवल ऐसी खानें और खदान बनकर रह गये जिनमें से प्रसंग की परवाह किये बिना सुविधाजनक उद्धरण खोजे जा सकें ताकि वे तत्त्वमीमांसा के शास्त्रार्थों में अस्त्र की तरह काम में आ सकें। जो सुविधाजनक थे ऐसे पाठों की अवहेलना कर दी गयी या उनके भाव को विकृत करके, उनका अवमूल्यन करके जैसे-तैसे समझा दिया गया। जो पद भाष्यकारों के शास्त्रार्थ में न तो सहायक थे न बाधक, उनका संक्षेप में भाष्य कर दिया गया था, फिर उन्हें झुटपुटे अंधेरे में छोड़ दिया गया। वेदांत के लेखकों की भाषा अबोध हो गयी; उनके रूपक, विचार के प्रतीक, अभिव्यक्ति की अर्थ-छटाएं पुरानी और दुरूह हो गयीं। अतः ऐसे परिच्छेद, जो कभी ज्ञान की गहराई नापते और सूक्ष्म विचार की मृदुता प्रकट करते और अपनी समृद्धि और अपने गुण में चमत्कारिक मालूम होते थे, वे आज के असावधान पाठक के लिये बचकानी, अंधेरी, अज्ञानभरी, मनमानी कल्पना का ढेर बन गये जो अनगढ़ और अपरिपक्व विचार की विशिष्टता है। एक प्रख्यात पाश्चात्य विद्वान् ने उन्हें अपरिपक्व मानवजाति का कूड़ा-करकट और तुतलाहट कहा है। वह यह न देख पाये कि शास्त्र कूड़ा-करकट या तुतलाहट नहीं है, स्वयं उनकी समझ कूड़ा-करकट और अज्ञान की तुतलाहट है। सबसे बुरी बात तो यह है कि वेदांती जिज्ञासुओं की मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों को भारत बड़े भाग में

खो बैठा क्योंकि कलि-काल का धुंधलापन उसपर छा गया, उसका ज्ञान संकुचित हो गया, उसके गुण कम होते गये और उसकी प्राचीन आध्यात्मिक वीरता अपना साहस और तेज खो बैठी। पूरी तरह नहीं खो बैठी क्योंकि गुफाओं और मठों में उसके ज्ञान के पार्श्व और अभ्यास अब भी जीवित हैं, अनुभूति और संवेदन के उसके पार्श्व अधिक ऐकांतिक और आत्म-परित्यक्त उत्साह के कारण संकीर्ण होकर बने रहे जो भक्ति-मार्ग की धड़कन की तीव्रता में और असंख्य भक्तों के उत्कंठित आंतरिक हर्ष में तेज हो गये। लेकिन यहां भी वे मंद और धुंधले, अपनी पूर्णता से वंचित, अपनी प्राचीन और कांतिमय शुद्धि से मंद हो गये। फिर भी हम सोचते हैं कि हम आधे वेद को ही सही, किसी-न-किसी तरह समझ तथा हस्तगत कर चुके हैं। और उपनिषद् ! हमने कुछ मुख्य अनुच्छेद समझे हैं और उन्हें भी अधूरी तरह से; परंतु उपनिषद् के समूह में हम उससे भी कम समझते हैं जितना हम मिस्र की चित्र-भित्तियों से समझते हैं। इन महान् रचनाओं में जो ज्ञान श्रद्धा से सुरक्षित है उसपर तो हमारा उससे भी कम अधिकार है जितना मिस्र की प्राचीन प्रज्ञा पर है।

मैंने कहा है कि भारतीय मन का बढ़ता हुआ बुद्धिवाद इस महान् राष्ट्रीय क्षति के लिये उत्तरदायी है। हमारे जिन पुरखों ने वैदिक सत्य की खोज की, या उसे पाया, वे उसतक बौद्धिक चिंतन या तर्क-बुद्धि से नहीं पहुंचे थे। उन्होंने उसे आत्मा में वास्तविक और हम कह सकते हैं, सुनिश्चित अनुभूति, आध्यात्मिक और चैत्य अवलोकन से पाया था। उन्होंने इस तरह जो अनुभव किया उसे अंतर्भासात्मक बुद्धि के साधन से समझा। लेकिन एक समय आया जब लोगों को यह आवश्यक मालूम हुआ कि वे वेद के इस परम और अमर सत्य का विवरण अपने-आपको और औरों को न्याय-शास्त्र की परिभाषा में, बौद्धिक तर्कणा की भाषा में दे सकें। अंतर्भासात्मक बुद्धि को ज्ञान का साधारण उपकरण बनाने के लिये आधार के रूप में लौह नैतिक और बौद्धिक अनुशासन, विचार की बृहत् निःस्वार्थता की जरूरत होती है—अन्यथा कल्पना और कामनाएं उसके कर्म की शुद्धि को भ्रष्ट कर देती हैं, उसे अपदस्थ करके, तड़क-भड़क के साथ उसका नाम और मुखौटा

पहन लेती हैं, वैदिक ज्ञान गुम होने लगता है और उसपर आधारित जीवन के अभ्यास और प्रतीक का स्थान शीघ्र ही औपचारिक कर्म और अमेधावी रीति-रिवाज और अनुष्ठान ले लेते हैं। तपस्या के बिना वेद नहीं हो सकते। हमारी प्राचीन परिपाटी के अनुसार विचारधारा इसी मार्ग का अनुसरण करती थी। तपस्या की क्षमता मनुष्य के प्रथम पुरुष के स्वर्णकाल की चीज है; जैसे-जैसे मानवजाति काल-प्रभावित होने लगती है और युग लौह-काल की ओर का मार्ग पकड़ता है वैसे-वैसे तपस्या के साथ-ही-साथ आधार, दिव्य ज्ञान, अधिरचना भी ढह जाते या क्षीण हो जाते हैं। तब सत्य का स्थान ले लेता है अंध-विश्वास, जहां सत्य खड़ा होता है वहां अविवेकी भ्रांति आ खड़ी होती है और वहां छिपी हुई, अर्पित नींव पर अपना सुख का तड़क-भड़कवाला अनोखा महल खड़ा करती है। यहांतक कि प्राचीन सत्य के खंडहर उसकी अनियमित इमारत के लिये पत्थरों का काम देते हैं। लेकिन ऐसा अपहरण कभी टिकाऊ नहीं हो सकता। चूंकि मानव सत्ता की आवश्यकता है सत्य और ज्योति तथा दिव्य विधान, जिसका मुख्य दृष्टिकोण यह है कि आत्मा की कोई उचित मांग संतुष्ट हुए बिना न रहेगी, यह चीज तर्क-बुद्धि को उठाती है ताकि वह अंध-विश्वास को साफ कर दे। तर्क-बुद्धि ईश के देवदूत की तरह दोहरे निषेध की अपनी तलवार से लैस होकर आती है (क्योंकि बौद्धिक तर्क का स्वभाव है कि वह विषयनिष्ठ आभास के सत्य के परे किसी चीज को विश्वास और बल के साथ प्रतिपादित नहीं कर सकता, बल्कि उसे तो हमेशा आधारभूत सत्य के बारे में नास्तिक और संदेहास्पद रहना चाहिये, समर्थन का उसका ऊंचे-से-ऊंचा शब्द है "संभवतः" और नीचे-से-नीचा है "शायद"), वह आकर जो कुछ काट सके उसे काट देती है और बहुधा निषेध की उत्तेजना में अपने-आपको भी खो बैठती है, सचमुच अंध-विश्वास का निषेध करती है लेकिन सत्य पर भी संदेह करती और उसे अस्वीकार करती है क्योंकि वह अंध-विश्वास की नींव रह चुका है या अपने कुछ पत्थरों के साथ इमारत का भाग बना था। बहरहाल, वह अधिक गंभीर कार्य के लिये मैदान साफ कर देती है, ज्यादा स्पष्ट लिखाई के लिये सिलेट को साफ कर देती है। प्राचीन भारतीय मानस

सहजवृत्ति से अनुभव करता था—मैं यह नहीं कहता कि उसने उपलब्ध किया या सचेतन रूप से प्रमाणित किया—कि इस निषेध के शासन से बचने के लिये एक मार्ग है; वेद के उतने सत्य को, जो अभीतक पकड़ में आ सकता था, उसे बौद्धिक तर्क के साथ प्रस्तुत करना और तार्किक रूप से उचित सिद्ध करना। इस मध्यम श्रम का परिणाम थे षट् दर्शन। बौद्ध धर्म निषेध की बाढ़ के रूप में आया जरूर लेकिन उसे आध्यात्मिकता को नष्ट करने से रोक दिया गया; जैसे अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय निषेध ने उसे कुछ समय के लिये नष्ट कर दिया था...

(अपूर्ण)

ईशावास्यम्

प्रारंभ में ही ईश उपनिषद् सीधा उस समस्या की जड़ तक जा पहुंचता है जिसे द्रष्टा ने समाधान करने के लिये अपने सामने रखा है। वह उन दो चरम परिभाषाओं से शुरू करता है जिनसे हमारा अस्तित्व बना हुआ मालूम होता है और एक चिरस्थायी वाक्यांश से, जो आठ संक्षिप्त परंतु पर्याप्त कांस्य शब्दों का है, उनका सामना करता और अपने उचित और शाश्वत संबंध में बिठा देता है। "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्"। ईश और जगत्, भगवान् और प्रकृति, आत्मा और जगत्, सत्ता के दो छोर हैं जिनके बीच में हमारी चेतना घूमती है। यह दोहरी वास्तविकता है अस्तित्व, जीवन और मनुष्य। अपनी सारी सृष्टि में एकाकी विराजमान शाश्वत, हमेशा गति करते हुए विश्व में और उसकी गति के अनगिनत चक्करों और गांठों में, जिनमें से हर एक को हम विषय या वस्तु कहते हैं, उन सब में, एक ही ईश बहु के रूप में निवास करता है। आलोकमय सूर्यों से लेकर गुलाब और धूलिकणतक, अपने आलोकमय या अंधेरे जगत् में देवों और दानवों से लेकर मनुष्य और उस कीटतक, जिसे वह सोचे-विचारे बिना अपने पैरों तले रौंद देता है, हर चीज उसका मंदिर है, उसका प्रासाद है। मंदिर में उसीकी अवगुंठित मूर्ति है, प्रासाद में वही गृहस्थ है। सभीका सृजन उसके

लिये और उसकी सत्ता के एक और बहु के रसास्वादन के लिये किया गया, उन सबके जीवन का इसके सिवा कोई और कारण नहीं है। यह सब ईश के निवास के लिये है। हर चीज, वह चाहे कुछ क्यों न हो, हर गति करनेवाली चीज के अंदर जो चीज गति कर रही है, वही है।

पृथ्वी पर पूर्ण जीवन की समस्या, एक ऐसे जीवन की जो उन रोगों से मुक्त हो, मानवता जिनकी शाश्वत और अनुद्धार्य बंदी और शिकार मालूम होती है, वेदांतियों की मान्यता के अनुसार उसका समाधान तभी हो सकता है यदि हम अस्तित्व की आधारभूत प्रकृति की ओर लौट चलें; क्योंकि वहींपर हम अशुभ की जड़ और उपचार का सत्य पा सकते हैं। वे यहांपर ईश और जगत्, इन दो शब्दों में हैं। निवासी ईश है, इस सत्य में, हमारे मन द्वारा उसके ज्ञान में, अपनी पूरी प्रकृति और सत्ता द्वारा उसकी सिद्धि ही अशुभ के शिकार, सीमा और मृत्यु के बंदी के बच निकलने का रास्ता है। दूसरी ओर प्रकृति क्षणभंगुर और असंगत गति है जिसे उन विधानों की सामंजस्यपूर्ण स्थिरता सुरक्षित रखती है जो उसकी किसी गति-विशेष पर शासन करते हैं। प्रकृति की यह अधीनता और अस्थिरता हमारे बंधन, मृत्यु, सीमाबद्धता और दुःख का रहस्य है। हम जो अपने-आपको प्रकृति की रूपात्मकताओं में फंसा लेते हैं, हमें यह जानना चाहिये कि अगर हम उसकी चकरानेवाली भ्रांति से बचना चाहें तो हमें अपने जीवन के दूसरे छोर, निर्गुण आत्मा या भगवान् को प्राप्त करना चाहिये। अपने अंदर स्थित भगवान्तक उठने से हम मुक्त हो जाते हैं और जगत् के बंधनों से और मृत्यु के जाल से छूट जाते हैं। भगवान् मुक्ति हैं, भगवान् अमरता हैं। "मृत्युं तीर्त्वा अमृतम् अश्नुते।" मृत्यु को पार करके हम अमरता का रस लेते हैं।

प्रकृति और आत्मा, जगत् और भगवान् का यह संबंध, जिसपर ऋषि भवन-निर्माण करते हैं, जिसमें प्रकृति भवन और भगवान् निवासी हैं, यह उनका व्यावहारिक संबंध है, तात्त्विक नहीं। सचेतन सत् ब्रह्म है, एक और अविभाज्य। आत्मा और प्रकृति, जगत् और भगवान् एक हैं। "अनेजदेकम् मनसो जवीयो"—वे एक अगतिशील परंतु मन से भी अधिक तेज हैं। परंतु

जीवन के लिये, वह चाहे बद्ध हो या मुक्त और बद्धता से मुक्ति की ओर गति के लिये, हमें इस एक की धारणा हमेशा दो या द्वित के रूप में करनी चाहिये जिसमें भगवान् प्रकृति का उल्टा पक्ष हैं और प्रकृति भगवान् का सीधा पक्ष जो हमारा सचेतन जीवन है। यह भेद स्वयं आत्मा ने अपनी सत्ता में किया है, उस उद्देश्य के लिये जिसे ऋषि ने एक शब्द “वास्यम्” में प्रकट किया है। भगवान् ने स्वयं अपनी सत्ता को विश्व की स्थानिक और कालिक गति में फेंक दिया है, अपनी गतिशील, प्रसारित आत्म-चेतना में रूप बनाते हुए, जिसे वह अपनी स्थिर और शाश्वत आत्म-चेतना में निवास करनेवाले और उसमें रस लेनेवाले से भिन्न समझता है, ताकि आत्मा के रूप में वह कर्ता के एक विषयगत अस्तित्व की तरह रह सके और जिसे वह आत्म-प्रसाद के गृहस्थ, आत्म-मंदिर के भगवान् को अपने साम्राज्य के राजा की तरह देख सके, उसपर अधिकार कर सके और उसमें रस ले सके। प्रकृति के साथ आत्मा के इस सार्वभौम संबंध में ईश शब्द का अर्थ होता है पूर्ण और निरपेक्ष स्वाधीनता, जिसका कभी अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, जिससे आत्मा वस्तु या विषय को आमने-सामने देखती है और अपने राज्य पर अधिकार कर लेती है। जगत् कोई जड़ घोंघा नहीं है जिसमें आत्मा बंद है, आत्मा जाल में फंसी हुई वस्तुओं का कोई घूमता-फिरता श्वास नहीं है जिसमें वह वस्तु, जिसे आत्मा प्रेरणा देती है, बंदी है। अंतर्यामी भगवान् अपनी सृष्टियों का ईश है, उनका सेवक या बंदी नहीं। गृहपति के रूप में आत्मा अपने निवास-स्थानों और अपनी इच्छा के अनुसार उन गृहों में प्रवेश करने या उनमें से निकल जाने के लिये स्वतंत्र है। उसने जिनका निर्माण किया है वे उसे संतुष्ट न कर पायें या उसकी आवश्यकताओं को पूरा न कर सकें तो उन्हें ढा देने के लिये भी स्वतंत्र है। आत्मा अपने शरीरों में प्रवेश करने या उनसे निकल जाने के लिये स्वतंत्र है। इस विश्व में आत्मा को जो पसंद आये उसे बनाने, नष्ट करने और फिर से बनाने की उसमें शक्ति है। वह स्वयं विश्वतक को किसी भी समय नष्ट करने या फिर से बनाने के लिये स्वतंत्र है। भगवान् बद्ध नहीं हैं; वे अपनी सृष्टियों के संपूर्ण, स्वतंत्र और निर्विरोध स्वामी हैं।

वैदंतिक विचार की इस महान् लय के शुरू में जान-बूझकर यह शब्द 'ईश' रखा गया है, इससे वह उसके सारे आवर्तन पर उत्कृष्ट ताल की तरह शासन कर सकता है। इस उपनिषद् के अठारह मंत्रों में जो कुछ कहा गया है उसकी यह चाबी है। यह केवल विश्व के बारे में समस्त यांत्रिक सिद्धांतों का विरोध ही नहीं करता और वस्तुओं के अंदर स्थित परात्पर आत्मा के पूर्व-अस्तित्व, सर्वशक्तिमत्ता, गौरव और स्वाधीनता को प्रतिपादित ही नहीं करता बल्कि विश्व के ईश को सभी शरीरों में स्थित आत्मा के साथ तदात्म करके वह मनुष्य की उस आत्मा की महानता, स्वाधीनता और प्रच्छन्न सर्वशक्तिमत्ता का प्रतिपादन करता है जो यहां दुःख के जाल में फंसी और चकरायी हुई और भटकती-सी प्रतीत होती है। उसकी प्रकृति के सभी पदों के पीछे मनुष्य की आत्मा भी दास नहीं, स्वामी, बद्ध नहीं मुक्त है। दुःख, मृत्यु और सीमाबंधन किसी ऐसी क्रियाशीलता के यंत्र हैं जिसे वह अपने ही आनंद के लिये परिपूर्ण करता है। मनुष्य अपने यंत्रों के साथ बंधा हुआ नहीं है। वह उनमें हेर-फेर कर सकता है, उन्हें अस्वीकार कर सकता है और उन्हें बदल सकता है। तो अगर हम अपने मन और शरीर की निश्चित प्रकृति, दृश्य विश्व की प्रकृति, सुख, दुःख के द्वितों, दुःख और आनंद, कार्य-कारण शृंखला या किसी अन्य शृंखला, बेड़ी या गांठ द्वारा बंधे हुए दीखते हैं तो यह बंधन एक आभास है, उससे बढ़कर कुछ नहीं। यह माया है, स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया गया बंधन है या फिर लीला है—अपने-आप चुना हुआ बंधन का खेल। एक बच्चे की तरह जो इस या उस पात्र का अभिनय करता है और अपने-आपको पात्र के साथ एकात्म कर लेता है, भीतर निवास करनेवाला यह पुरुष अपनी स्वाधीनता को भूलता हुआ प्रतीत हो सकता है लेकिन जब वह भूलता है तब भी स्वतंत्रता उपस्थित होती है, स्वयंभू और अविच्छेद्य। वह आभास के सिवा और कभी गुम नहीं होता और आभास में भी फिर से प्राप्त हो सकता है। जगत्-सत्ता का खेल केवल बंधन का नहीं बल्कि समान रूप से बंधन-मुक्ति का खेल भी है।

कर्मयोगी

(ईशोपनिषद् पर भाष्य)

अध्याय एक

त्याग का विधान

१—सब कुछ ईश, सब जगह ईश :

गुरु—उस शाश्वत को नमन जो देश, काल, कारण और सीमारहित है। नमस्कार है उसे जो विश्व पर शासन करता है, मायापति और बहुविध जीवन का स्वामी है। मेरे अंतर में स्थित आत्मा को नमन, जो सभी प्राणियों की आत्मा है। नमस्कार है उस ब्रह्म, ईश, आत्मा को, वह चाहे जिस रूप में अपने-आपको प्रकट करे या न भी करे, नमस्कार है उस एक को, उस एकमेव सच्चिदानंद को।

उपनिषद् आरंभ होता है :—

“इस विश्व में सब कुछ, वह सब भी जो इस चलायमान विश्व में जगत् है, प्रभु से कपड़े की न्याईं वेष्टित होना चाहिये। जगत् को त्याग दे ताकि तू उसका भोग कर सके। किसी अन्य के धन के लिये लोलुप न हो।”

उपनिषद् ने पहले-पहल हमारे आगे परम सत्ता के वैश्व भाव को प्रस्तुत किया है क्योंकि हम जो कुछ देखते, सुनते या जो कुछ हम हैं या जिसका किसी तरह से अनुभव करते हैं हमें उसे घेरे हुए प्रभु की उपस्थिति का अनुभव करना चाहिये। मैं जिस पेड़ के नीचे बैठा हूँ उसे मुझे इतने सारे पत्ते, छाल, गूदा और रस, धरती और वायु के खोल में बंद जड़ें न समझ लेना चाहिये। मुझे यह अनुभव करना चाहिये कि यह सब उस परम प्रभु के अंदर अभिव्यक्ति है जो एकमात्र सद्बस्तु है। यह शब्द जिसे मैं उच्चारित कर रहा हूँ, दिव्य सद्बस्तु के वातावरण में स्पंदित होता है और

केवल इसीलिये कि वह उसमें स्पंदित होता है वह ध्वनि, उच्चारण और अर्थ के योग्य है। जो भी क्रिया मैं करता हूँ या औरों को करते देखता हूँ वह ऐसी नहीं है जिसे प्रभु घेरे हुए या सहारा दिये हुए नहीं हैं, अन्यथा वह हो ही न सकती। मैं जो कुछ देखता हूँ, मैं भगवान् को देखता हूँ, मैं जो कुछ सुनता हूँ, भगवान् को सुनता हूँ, मैं जो कुछ करता हूँ उसमें भगवान् की शक्ति ही मेरी क्रियाओं पर शासन करती है। यह पहली चीज है जिसे कर्मयोगी को अनुभव करना चाहिये और जबतक वह अपने मन को इस उपलब्धि पर स्थिर न कर ले, कर्मयोग असंभव है। प्रभु सब जगह हैं, प्रभु हर चीज को अपनी उपस्थिति से घेरे हुए हैं, प्रभु सब कुछ हैं, "वासुदेवः सर्वमिति।" मैं जो कर्म करता हूँ उसे ईश में ही करता हूँ। यह कर्ता अहं जो कर्म करता है केवल ईश में ही विद्यमान है, यह कर्म जो नर हो या नारी या जड़ वस्तु हो जिसपर क्रिया की जाती है, केवल ईश में ही विद्यमान है। सबसे पहले परम पुरुष की सर्वव्यापकता का अनुभव करना चाहिये। जब योगी इस सर्वव्यापकता का आध्यात्मिक अनुभव कर ले तभी वह कर्मयोग का अधिकारी हो सकता है; क्योंकि तबतक वह मैं, तू और वह की सतत अनुभूति को एक उच्चतर और बृहत्तर अस्तित्व में नहीं डुबा सकता और न ही तबतक आभासी आत्मा से निकलकर सच्ची आत्मा में प्रवेश कर सकता है। और इसके बिना कर्मयोग सचमुच शुरू नहीं हो सकता। सभी चीजों को परम प्रभु में वेष्टित करना, तुम जो कुछ कहो, सोचो, करो, अनुभव करो या जिसके बारे में संवेदन प्राप्त करो, उसमें उनके बारे में सचेतन होना कर्मयोग का आरंभ है। इस अनुभूति का अंतरात्मा की अभ्यासगत स्थिति में रूपांतरित होना कर्मयोग की निष्पत्ति है क्योंकि यह सीधी ब्रह्म के ज्ञान और उनके साथ ऐक्य के आनंद की ओर ले जाती है। कर्म पिघलकर ज्ञान और भक्ति के साथ एक हो जाता है। कर्म, भक्ति और ज्ञान के तीन मार्ग हैं जो प्रपंचात्मक अस्तित्व से शाश्वत परमार्थ की ओर ले जाते हैं और जहां ये तीनों मिलकर एक हो जाते हैं, वह इस महान् यात्रा का अंत और विष्णु का परम पद है जिसकी ओर ले जाना उपनिषद् का उद्देश्य है। ईशोपनिषद् कर्मयोग का शास्त्र है। तीन मार्गों में से वह कर्म की शिक्षा

देता है अतः वह भगवान् की ओर उन्मुख कर्म की पहली अपरिहार्य स्थिति से आरंभ करता है। सभी वस्तुओं, प्राणियों, कारणों, कार्यों, परिवर्तनों और विकासों को इतने सारे अस्थायी प्रपंचों के रूप में देखना, जो परम सत्ता की उपस्थिति से ढके हुए हैं, वे उसके अंदर और उसीके द्वारा अस्तित्व धारण करते हैं। मैं नहीं वह, क्योंकि वह मेरी सच्ची आत्मा है और जिसे मैं अहं कहता हूं वह केवल ढक्कन और आभास है—यह वेदांत है। इस सत्य की पहली अनुभूति ज्ञान का आरंभ है, भक्ति का आरंभ है, कर्म का आरंभ है, सोऽहम्, वही सत्य और एकमात्र अहं है।

२—ईश :

अब हम बारीकी से शास्त्र की भाषा को देखें क्योंकि उपनिषद् में हर शब्द का अनंत महत्त्व है और उसे अन्य शब्दों को छोड़कर किसी गहन और सारगर्भित कारण से चुना जाता है। इस उपनिषद् का पहला शब्द है ईश। हमें इस विश्व की सभी चीजों को प्रभु द्वारा वेष्टित करना चाहिये। हम जो कुछ सोचें, करें, देखें या अनुभव करें उसमें हमें प्रभु की ही उपस्थिति, इच्छा और शक्ति को अनुभव करना चाहिये। दूसरे शब्दों में वह ऐसी परम सत्ता है जो अचल, अज्ञेय परब्रह्म, परात्पर नहीं है, जो इंद्रियों, मन और वाणी की पहुंच के बाहर है। वह आत्म-केंद्रित सच्चिदानंद भी नहीं है जिसके साथ ज्ञान-योगी समाधि में एक होना चाहता है। वह विश्व के स्वामी के रूप में शाश्वत है जो प्रपंच के चक्र को चलाता और उसकी गतिविधियों का मार्ग-दर्शन करता रहता है, जैसे कोई यांत्रिक अपने यंत्र पर नियंत्रण रखता है। कर्मयोगी का लक्ष्य होता है निर्भ्रांत होकर जीना, फिर भी माया की भ्रांतियों का अपने योग की सामग्री के रूप में उपयोग करना; वह प्रपंच के बीच रहते हुए अपने-आपको आभासों से मुक्त करना चाहता है, अतः ईश, महेश्वर, मायापति, बहुमुखी प्रपंचात्मक जीवन के स्वामी की उसे खोज होती है जिसके अंदर उसे अपने निम्नतर स्व को खो देना होता है। चूंकि वह कर्म के द्वारा कार्य करता है अतः उसे कर्मों के स्वामी की निःस्वार्थ जीवन के फूलों और अगारू से पूजा करनी होगी।

लेकिन क्या परब्रह्म और ईश में कोई भेद है ? क्या एक नहीं दो परम सत्ताएं हैं ? कोई फर्क नहीं। वस्तुतः फर्क केवल आभास और सादृश्य का है। परब्रह्म, निरपेक्ष, परात्पर, शाश्वत सद्बस्तु मानव बुद्धि के लिये अज्ञेय है; मनुष्य के अंदर जो तर्क-बुद्धि से ऊपर है वह परब्रह्मतक पहुंच सकता है और उसका अनुभव कर सकता है क्योंकि वह परब्रह्म है, लेकिन यह समाधि की अवस्था में होता है। और मानव समझ समाधि की अवस्था से ऐसा कोई आलेख नहीं ला सकती जो तर्क-बुद्धि के लिये बुद्धिगम्य हो या जिसे वाणी की परिभाषा में समझाया जा सके। अपने सार-तत्त्व में परब्रह्म अनुभवगम्य है पर बुद्धिगम्य नहीं; उनका अनुभव किया जा सकता है परंतु उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती, उन्हें समझा नहीं जा सकता। फिर भी परब्रह्म हमारी समझ के आगे दो आभास या दो पक्ष रखते हैं जिनके द्वारा उन्हें पूरी तरह तो नहीं, सापेक्ष रूप में समझा जा सकता है। ये दो पक्ष परब्रह्म के आत्म-ज्ञाता रूप में निहित विद्या और अविद्या की शक्तियों, जानने की शक्ति और न जानने की शक्ति के अनुरूप हैं। ये ज्ञान और भ्रांति की क्षमताएं हैं। परब्रह्म अपने-आपको उस रूप में जान सकते हैं जो वह वास्तव में हैं; यह है विद्या। वे अपनी उस रूप में कल्पना भी कर सकते हैं जो वे नहीं हैं; यह अविद्या है। अपने पहले रूप में वे सच्चिदानंद हैं। उनका अस्तित्व केवल अपने लिये है क्योंकि स्वयं उनके अतिरिक्त और कोई सत्ता है ही नहीं। वे केवल अपनी सत्ता के बारे में सचेतन हैं क्योंकि ऐसी कोई और सत्ता नहीं है जिसके बारे में सचेतन हुआ जाये। वे अपनी आत्म-सचेतन सत्ता के आनंद हैं क्योंकि उनके बाहर या उनके अतिरिक्त कोई ऐसी सत्ता है ही नहीं जो उन्हें बाहरी आनंद दे सके। यही शाश्वत सद्बस्तु है। सत्य-ज्ञान या विद्या के लिये उनका यही रूप है। लेकिन एक शाश्वत असद्वस्तु भी है, मिथ्या ज्ञान या अविद्या के लिये उनका रूप। तब वे एक महान् इच्छा, शक्ति या सामर्थ्य हैं जो अपने-आपको करोड़ों नाम-रूपों में प्रकट करती है और प्रपंचात्मक विकास के शाश्वत चक्र को सदा गतिशील रखती है। वह उसपर शासन करता और उसका मार्गदर्शन करता है। तब वह ईश, स्वामी या शासक होता है। अगर हम मानव समरूप का

व्यवहार करें तो, मानों शेक्सपीयर अपने-आपको डेस्टेमोना, ऑथेलो, इआगो वियोला रोज़ालिण्ड, मेकबेथ, हेमलेट, लीअर, सिम्बलीन आदि सैंकड़ों नाम-रूपों में उंडेलते हुए अद्भुत काल्पनिक जगत् का स्वामी और शासक बनने के लिये अपनी अविद्या की शक्ति का उपयोग करता है। जब कि शेक्सपीयर का अपनी सभी कृतियों को एक ओर रखकर अपने एकमात्र और पर्याप्त अस्तित्व की ओर लौटना, अपनी निजी सतत एकमात्र सद्वस्तु को प्राप्त करने के लिये अपनी विद्या-शक्ति का उपयोग करना है। लेकिन शेक्सपीयर एक है, दो नहीं। कर्मयोगी को इस महान् बहुमुखी प्रपंचात्मक विश्व के साथ व्यवहार करना पड़ता है और जब वह शाश्वत की उपस्थिति को उसके अंदर स्थित हर चीज के इर्द-गिर्द खोजने की कोशिश करता है तो निश्चय ही भगवान् के, सच्चिदानंद के अननुकूलित, अप्रपंचात्मक पक्ष में नहीं बल्कि विश्व के स्वामी, ईश के अनुकूलित और प्रपंचात्मक रूप में खोजता है। ईश के रूप में कर्मयोगी उनकी कई अवर स्थितियों में पूजा कर सकता है। ईश पुरुष और प्रकृति के रूप में दोहरी सत्ता है। पुरुष है वह आध्यात्मिक शक्ति का महान् पुंजातीय सागर जो प्रकृति को सृजन करने के लिये प्रवृत्त करता और उसकी क्रियावली का निरीक्षण करता है, दूसरी है प्रकृति, वह शक्तिशाली नारी-जातीय ऊर्जा जो सृजन करती और पुरुष के सुख के लिये अथक कर्म करती रहती है। वह तिहरी सत्ता है प्रज्ञा, हिरण्यगर्भ और विराट्; प्रज्ञा—सृष्टि-जीवन की स्वामिनी, वह मेधावी शक्ति जो अन्यथा जड़, निर्जीव जीवन प्रतीत होनेवाली सत्ता में जीती और जागती है या जो यांत्रिक शक्तियों का अंधा खेल है। हिरण्यगर्भ—स्वप्न-जगत् का स्वामी जो इस अवचेतन रूप से मेधावी आध्यात्मिक सत्ता के सागर में से उन सचेतन चैत्य शक्तियों को लेता है जिन्हें वह मूर्त रूप देता है अथवा स्थूल सजीव पदार्थ के विभिन्न रूपों में मढ़ता है; फिर विराट्—जाग्रत् जीवन का स्वामी, वह उस संवेदनशील सृष्टि पर शासन करता है, उसका पालन-पोषण और उसकी देख-रेख करता है जिसे हिरण्यगर्भ ने आकार प्रदान किया है। वह फिर से शिव, ब्रह्मा और विष्णु के रूप में एक और त्रयी है, शिव संहारक, योगी, पशुपति, समाधि का स्वामी, श्मशानपति और अशरण-

शरण है। ब्रह्मा—स्रष्टा, जो जीवन को प्रस्तुत करता है और अपने हाथ को क्षण भर के लिये भी नहीं रोकता; विष्णु—परिरक्षक, त्राता, शक्ति और प्रेम, जीवन, ज्योति और मधुरता का स्वामी। ईश या प्रभु के इन सब रूपों के साथ हिंदू पूजा-अर्चना ने कुछ नाम और रूप जोड़ दिये हैं और ईश भी अपने-आपको अपने पुजारियों के आगे उन्हीं नाम-रूपों में प्रकट करता है। ज्ञानयोगी ईश को शिव के उच्चतम समाधि के स्वामी के रूप में पूजना पसंद करता है। भक्त के आगे वह उसके आध्यात्मिक भावों के अनुकूल उसको लुभानेवाले रूप में प्रकट होता है, लेकिन कर्मयोगी को अपने-आपको परम पुरुष के उन रूपों के अर्पण करना चाहिये जिनमें उसकी महान् शक्ति, जीने और सृजन करने की इच्छा ने अपने-आपको अपने उच्चतम, शुद्धतम, अधिक-से-अधिक प्रेरणादायक ओजस्वी पौरुष में प्रकट किया है क्योंकि कर्म केवल गतिशील शक्ति है और कर्मयोगी को जगत् में दिव्य ऊर्जा का शुद्ध वाहक, निःस्वार्थ वीर और स्रष्टा होना चाहिये। स्वयं ईश ने अपने अवतारों, बुद्ध, राम, श्रीकृष्ण में हमें अपनी उच्चतम निःस्वार्थ दिव्य ऊर्जा के प्रारूप दिये हैं अतः कर्मयोगी को अपनी पूजा-आराधना इन महान् आत्माओं, भागवत पुरुषों की ओर प्रेरित करनी चाहिये। या फिर वह ईश की पूजा उसकी शक्ति में, अभीतक मानव मन ने उच्चतम वैश्व शक्ति के जिस सबसे प्रबल रूप को देखा है, उस दुर्गा-काली के रूप में कर सकता है। अगर वह रूपों को छोड़ सकता है तो वह स्वयं ईश के, उस सर्वशक्तिमान् प्रभु के विचार को पूज सकता है जिसकी आराधना हिंदू हरि के, ईसाई गॉड के और मुसलमान अल्लाह के रूप में करता है। और नास्तिक भी, यदि वह समस्त जीवन और अस्तित्व में काम करनेवाली महाशक्ति को पहचानता या स्वीकार करता है और अपने स्व और अपने कर्म को उस शक्ति की इच्छा और उसके उद्देश्यों को अर्पित करता है, अगर वह मनुष्यों में उस देव को स्वीकार करता है जिसे वह विश्व में स्वीकार करने से इंकार करता है और अपने-आपको अपनी जाति की निःस्वार्थ सेवा में लगा देता है तो उसने भी अपने चरण कर्मयोग के मार्ग पर रख दिये हैं और वह उस प्रभुतक पहुंचे बिना नहीं रह सकता जिसे वह

अस्वीकार करता है। इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि कर्मयोगी किसी विशेष नाम या रूप को माने, उसे अपनी बृहत्तर आत्मा के रूप में स्वीकार करे जिसे जीत लेने के लिये उसे अपनी लघुतर आत्मा को खोना पड़ेगा। लेकिन जरूरी और महत्त्वपूर्ण यह है कि वह अपने अंदर और अपने बाहर एक शक्ति की उपस्थिति को स्वीकार करे जिसकी इच्छा और क्रियावली के विधान पर वह प्राकृतिक मनुष्य की अपनी इच्छा और अपनी आराधना को न्योछावर कर सके। वह इस शक्ति को जो नाम चाहे दे ले, वह उसे नाम दे या न दे, वह ईश ही है जिसकी उपस्थिति का अनुभव उसे इस विश्व की हर वस्तु और हर क्रिया के चारों ओर करना चाहिये।

३—ईश और उसका विश्व :

इसके बाद हम 'वास्यम्' शब्द को लें। इस सारे विश्व को ईश से वेष्टित होना चाहिये। हमें ईश की उपस्थिति के भाव को विश्व की हर वस्तु के चारों ओर लपेटना और ईश से घेर लेना चाहिये जैसा चोगा पहननेवाले के चारों ओर खिंचा होता है और उसे घेर लेता है। क्योंकि ईश अपने विश्व से बड़ा है। यह वृक्ष ईश नहीं है, वह ईश के अंदर है। हमें जड़वादी सर्वेश्वरवाद से बचना चाहिये जो दृश्य विश्व को परम सत्ता के साथ एक मानता है। यह सच है कि वह विश्व का अंतिम और भौतिक दोनों कारण है और एक अर्थ में वह अपना विश्व है और उसका विश्व स्वयं वह है। जैसे शेक्सपीयर के सृजन स्वयं शेक्सपीयर हैं, जिन्हें उसने अपनी चैत्य-सामग्री में से बना है, लेकिन फिर भी यह स्पष्ट है कि अगर हम इआगो को शेक्सपीयर से अभिन्न मानें तो यह भूल होगी। यह वृक्ष मूल आकाश में से विकसित हुआ है, आकाश में व्याप्त है और उसे चारों ओर से घेरे हुए है लेकिन पेड़ को आकाश नहीं कहा जा सकता और न ही आकाश को पेड़ ही कहा जा सकता है। अतः जरा गहराई में जाकर हम देखते हैं कि वह उस ईश के अस्तित्व से विकसित हुआ है जो उसे अपनी उपस्थिति से भरे हुए और घेरे हुए है, लेकिन वृक्ष ईश नहीं है, न ईश ही वृक्ष है। हिंदू मूर्तिपूजक नहीं है।

वह खम्भों या पत्थरों को नहीं पूजता, वृक्ष की वृक्ष के रूप में, पत्थर की पत्थर की रूप में या मूर्ति की एक जड़ वस्तु के रूप में पूजा नहीं करता। वस्तुतः वह भगवान् की उस उपस्थिति को पूजता है जो पेड़, पत्थर या मूर्ति को भरे हुए और घेरे हुए है या जिसकी पेड़, पत्थर और मूर्ति केवल अभिव्यक्तियाँ या दृश्यमान पात्र हैं। हम भाषा की और मानसिक उपलब्धि की सुविधा के लिये कहते हैं कि भगवान् अपनी सृष्टि में हैं परंतु सचमुच सृष्टि भगवान् के अंदर है, 'न त्वहं तेषु ते मयि,' मैं उनमें नहीं हूँ, वे मेरे अंदर हैं।

हम देखते हैं कि यूरोपीय विद्वानों का जब श्रुति के रूपकों से पाला पड़ता है तो वे एक विशेष कठिनाई से टकराते हैं, यदि हम अपने शास्त्रों को समझना चाहें तो हमें उस भूल से सावधानी के साथ बचना चाहिये। उनकी कठोर, तर्कसंगत, अनमनीय बुद्धि रूपक को उसके शाब्दिक अर्थों में जड़ देना चाहती है और इस तरह उपनिषद् के भाव के साथ उग्रतापूर्ण व्यवहार करके परिणामस्वरूप विजयोल्लास के साथ वे हमारी अपौरुषेण कृतियों की असंगतियों और असंबद्धताओं की ओर इशारा करके चिल्लाते हैं, "ये मानवजाति की बाल्यावस्था के कभी-कभी उदात्त परंतु साधारणतः बचकाने अनुमान हैं।" परंतु श्रुति के रूपक अधिक स्पष्ट रूप से समझने में केवल सहायक होते हैं, आशा की जाती है कि तुम उनके भाव को लोगे, शब्दों को पकड़कर न बैठ जाओगे। वे ऊपर चढ़ते समय हाथ को सहायता देनेवाली सुविधाएं हैं, ऐसे खूंटें नहीं जिनपर तुम अपना पूरा भार लटका सको। यहां एक रूपक है 'वास्यम्', वस्त्र की तरह पहना दो। लेकिन वस्त्र पहननेवाले से भिन्न होता है और उतने स्थानतक सीमित होता है जहां वह समाता है। तो क्या ईश अपनी सृष्टि से भिन्न और अपनी सत्तातक सीमित हैं? शब्द तो यही है पर भाव इससे भिन्न है। हमें यह मानना चाहिये कि ईश की उपस्थिति जो अनंत है, वह प्रत्येक वस्तु को घेरे हुए है और उस वस्तु की सीमाओंतक सीमित नहीं है। वास्यम् की यही शक्ति है, इससे बढ़कर नहीं। जब हम पेड़ को देखते हैं तो यह नहीं कहते कि "यही ईश है", बल्कि कहते हैं, "यह है ईश।" पेड़ केवल उनके अंदर और उनके

द्वारा अस्तित्व धारण करता है। वे आकाश की तरह उसके अंदर और उसके चारों ओर हैं।

श्रुति कहती है कि इस सबके लिये यही मानो कि इसे ईश की उपस्थिति घेरे हुए है, 'सर्वमिदम्', वह सब जो हमारी इंद्रियों के आगे उपस्थित है, वस्तुतः वह सब जिसे हम विश्व कहते हैं; लेकिन गलतफहमी से बचने के लिये उपनिषद् इस बात की ओर भी इशारा करता है कि केवल समूचा विश्व ही नहीं बल्कि विश्व में स्थित प्रत्येक वस्तु के लिये हमें यही अनुभव करना चाहिये कि वह दिव्य उपस्थिति से घिरी है, "यत्किञ्च जगत्यां जगत्",^१ सभी चीजें और हर चीज जो उसमें गति करती है, जो गति देती है। 'जगति', वह जो गति करती है, प्राचीन संस्कृत में एक ऐसा शब्द था जो सारे विश्व के लिये चलता था, उसके बाद उसका अर्थ हो गया यह गतिशील पृथ्वी, विश्व का वह भाग जिसके साथ हम मानव प्राणियों का विशेष संबंध है और नपुंसकलिंग जगत्, 'वह जो गति करता है,' संसार और विश्व के लिये साधारण उपयोग का शब्द बन गया। लेकिन विश्व को "वह जो गति करती है" क्यों कहा गया? क्योंकि वह प्रकृति की क्रिया का परिणाम है, प्रकृति का दृश्यमान रूप है। ईश की महान् नारी-जातीय भौतिक शक्ति और प्रकृति का सारतत्त्व है गति, क्योंकि इस गति के द्वारा ही वह इस जड़ भौतिक जगत् का निर्माण करती है। वस्तुतः समस्त विषयगत सामग्री केवल एक रूप है अर्थात् गति का दृश्यमान, श्रव्य और इंद्रियगोचर परिणाम है। हर एक जड़ विषय-वस्तु वह है जिसे यहांपर जगत् कहा गया है; ठीकरी, पत्थर सब अनंत गति का जगत् है। हमारी इंद्रियां कहती हैं कि जड़ जगत् ही एकमात्र वास्तविकता है, एकमात्र स्थायी वस्तु जिसके नियम और जिसकी व्यवस्था के बारे में हम विश्वास कर सकते और उसके अनुसार चल सकते

^१ सर्वं इदम्—यह सब, जो कुछ यहां है। उपनिषद् में विश्व की गतिशीलता में स्थित समस्त प्रपंच के लिये सामान्य प्रयोग है।

^२ यत्किञ्च जगत्यां जगत्—वैश्व गतिविधि में जो कुछ गति का व्यष्टिगत विश्व है।

^३ प्राचीन ऋषि जानते थे कि पृथ्वी गति करती है—चला पृथ्वी स्थिर भाति—पृथ्वी चलती है परंतु स्थिर प्रतीत होती है।

हैं। लेकिन हमारी इंद्रियां भूल करती हैं और उपनिषद् हमें उनकी मिथ्या साक्षी के बारे में सावधान करता है। जड़ जगत् आध्यात्मिक सत् के महान् सागर, ब्रह्म की सतह पर एक क्षणिक और परिवर्तनशील भंवर है, केवल ब्रह्म ही है, वह अपनी गहराइयों में शाश्वत सद्वस्तु और स्थायी है। ईश के रूप में वही आज्ञा देता, शासन करता और उस अनंत गति को स्थायित्व प्रदान करता है जिसे हम विश्व कहते हैं। और अगर हम सद्वस्तु के साथ संपर्क में रहना चाहें तो हमें अपनी अंतरात्माओं को उसकी उपस्थिति के बारे में अभिज्ञ होने के लिये प्रशिक्षित करना चाहिये जो इस चलायमान प्रकृति का और साथ ही हर उस विषयगत रूप का, जिसे उसके स्पंदनों की बदलती हुई गतियां रूप देती हैं—पोषण करती है, उसमें व्यापक है और उसे घेरे हुए है। इस भांति सद्वस्तु के साथ सतत संपर्क में आकर कर्मयोगी प्रकृति के मिथ्या आभासों और भ्रांतियों से बच जायेगा; कर्म भी, जो प्रकृति की गति मात्र या क्रियाशील ऊर्जा है, उसपर अधिकार न कर पायेगा या जैसे तूफान जहाज को चक्कर खिलाता है उस तरह न कर पायेगा, बल्कि वह कर्मयोगी स्वयं अपने तथा औरों के कर्मों का स्वामी होगा। क्योंकि केवल क्रियात्मक रूप में किसी वस्तु की वास्तविकता और उसकी क्रिया के विधान को समझ कर ही व्यक्ति उसका स्वामी बन सकता है और स्वयं अपने प्रयोजन के लिये उसका उपयोग कर सकता है।

४—मनुष्यों और सभी प्राणियों में भगवान् :

लेकिन जब कर्मयोगी देख लेता है कि ईश सभी वस्तुओं को अपनी उपस्थिति से घेरे रहता है और सभी वस्तुएं इस दिव्य सद्वस्तु के अंदर केवल क्षणिक अभिव्यक्तियों, मूर्तियों या बिम्बों के रूप में रहती हैं तब इसके बाद ? इसके बाद यह कि जैसे यह पेड़, वह पहाड़ दिव्य सद्वस्तु में केवल बिम्बों या अभिव्यक्तियों के रूप में अस्तित्व धारण करते हैं उसी तरह सभी प्राणी, जिनमें मनुष्यों की भी गिनती हो जाती है, उस एक दिव्य सद्वस्तु के अंदर केवल बिंब या अभिव्यक्तियां हैं। दूसरे शब्दों में मेरे और

तुम्हारे अंदर जो कुछ वास्तविक, जीवित और शाश्वत है वह हमारा शरीर नहीं, हमारा प्राण और उसकी कामनाएं नहीं, हमारा मन, हमारी तर्कबुद्धि और समझ नहीं, केवल भागवत उपस्थिति है जो मेरे, तुम्हारे अंदर उसी तरह व्यापक है जैसे पेड़ और पर्वत में। और हमारे अंदर ईश की उपस्थिति को शरीर, प्राण, मन, बुद्धि या समझ संस्थापित नहीं करते क्योंकि मेरा शरीर तुम्हारे शरीर से भिन्न है, मेरा प्राण तुम्हारे प्राण से भिन्न है, मेरा मन तुम्हारे मन से भिन्न है, मेरी बुद्धि और समझ तुमसे भिन्न है, काल और परिस्थितियों के अनुसार वे चीजें अपने-आपमें भी बदलती रहती हैं परंतु ईश एक और अपरिवर्तनशील है। अतः हमारे अंदर इनमें से भी किसी भी चीज की अपेक्षा कोई अधिक गहरी चीज होनी चाहिये, ऐसी कोई एकमात्र चीज होनी चाहिये जो वास्तविक, जीवित और शाश्वत है। वेदांत में इस चीज को आत्मा कहते हैं, अपने समस्त प्राणियों में हर एक के भीतर यही ब्रह्म या ईश है। आत्मा अणु में वही है जो सच्चिदानंद विभु में है, महान्, शुद्ध, प्रकाशमान सत् है जो आत्म-सचेतन और आत्मानंदमय है, जो न तो कर्म करता है न कामना, केवल प्रकृति द्वारा अनुप्राणित किये हुए सृष्टि के जीवन में प्रकृति की अनंत लीला का अवलोकन करता है। और जैसे अविद्या की शक्ति में सच्चिदानंद महान् इच्छा या शक्ति की आकृति धारण करता है, ईश जगत् की अनंत बहुलता का निर्माण करता, उनपर शासन करता, उनका पथ-प्रदर्शन करता और उन जगत् की पारस्परिक लीला में आनंद लेता है; तो उसी शक्ति द्वारा मानव में वह आत्मा या साक्षी सर्वोच्च इच्छा का सादृश्य ग्रहण करता है, अपने लिये कर्म और अकर्म, हर्ष और पीड़ा, सुख, दुःख, विजय, पराजय का सादृश्य ग्रहण करता है, अपने अनुप्राणित किये हुए आभासी प्राणी का पथ-प्रदर्शन करता, उसपर शासन करता, उसकी क्रिया में आनंद लेता है परंतु वह अपने कर्मों से न तो प्रभावित होता है न बंधता है। यह इच्छा, जिसे वेदांत इच्छा नहीं, आनंद कहता है, इसे संकल्प-शक्ति या कामना न समझ बैठना चाहिये क्योंकि संकल्प-शक्ति बाह्य और आभासी मनुष्य की चीज है, आंतरिक और वास्तविक की नहीं। यह आत्मा मेरे अंदर है और तुम्हारे अंदर भी वही है और हर सत्ता के

अंदर वही है और सबके अंदर एक वही आत्मा है, बस फर्क इतना ही है कि इच्छा या शक्ति अलग-अलग मात्राओं में अलग-अलग तीव्रता में, काम करने के अलग-अलग ढंग में प्रकट होती है और इस कारण हर प्राणी में भिन्न गुणों और भिन्न क्रिया में प्रकट होती है। इसी कारण वस्तुतः एक तथा अविभाज्य में भिन्नता और विभाज्यता दिखायी देती है।

अविभाज्य की यह विभाज्यता वैदंतिक विचार के उन गहरे विरोधाभासों में से है जो बढ़ते हुए ज्ञान के साथ गहरे और व्यापक सत्य दिखायी देंगे। पहले इस बात पर पूरा विश्वास किया जाता था कि मानव व्यक्तित्व एक और अविभाज्य है; लेकिन अभी हाल में मनोवैज्ञानिकों का एक संप्रदाय उठ खड़ा हुआ है जो मानता है कि मनुष्य विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्वों की पोटली है, एक, समाजातीय और अविभाज्य चेतना नहीं है। क्योंकि यह पता चला है कि एक व्यक्ति अपने-आपको विभिन्न व्यक्तित्वों में विभाजित कर सकता है, यह हो सकता है कि हर एक अपना-अपना ही जीवन जिये और दूसरों के बारे में अनभिज्ञ रहे। और इसके अतिरिक्त उसमें एक और ऐसा व्यक्तित्व भी पैदा हो सकता है जो और सबसे अलग होते हुए भी उनसे सचेतन हो। यह सच है। फिर भी मनुष्य हमेशा केवल शरीर में ही नहीं बल्कि अपनी चैत्य सत्ता में भी एक और समान बना रहता है। क्योंकि उसके अंदर एक गभीरतर अधःस्तर होता है जो इन सब विभक्त व्यक्तित्वों के नीचे फैला रहता है और उन सबसे अधिक विस्तृत होता है। सच्ची बात तो यह है कि जाग्रत् व्यक्तित्व वास्तविक नहीं, आभासी मनुष्य है। व्यक्तित्व स्मृति की रचना है क्योंकि स्मृति ही उसका आधार और उसकी पीठिका है। तो अगर पीठिका को विभाजित करके अलग-अलग कर दिया जाये तो अधिरचना को भी उसी क्रिया द्वारा विभाजित करके अलग-अलग किया जाना चाहिये। लेकिन जाग्रत् स्मृति एक विशालतर और प्रच्छन्न स्मृति का एक भाग, उसका एक चयन मात्र है जिसने मनुष्य के वर्तमान ही नहीं बल्कि उसके भूतकाल की समस्त घटनाओं का सही-सही अंकन किया है। वह व्यक्तित्व जो उस प्रच्छन्न निर्भ्रान्त स्मृति के साथ मेल खाता है वही मनुष्य का सच्चा व्यक्तित्व है; यह उसकी अंतरात्मा है, अनंत और अविभाज्य, और

उसके आभासी विभाजन केवल जाग्रत् स्मृति के त्रुटिपूर्ण कर्म के कारण अविद्या, मिथ्या-ज्ञान के परिणाम हैं। तो दिव्य आत्मा का अनेक मानव आत्माओं में विभाजन, अविभाज्य परमात्मा का अनेक जीवात्माओं में विभाजन केवल अविद्या या ईश द्वारा स्वयं अपने ऊपर आरोपित भ्रम की क्रिया का परिणाम है। ईश वह महान् शक्ति है जिसने इच्छा की कि "एक" इस माया की शक्ति से प्रतीयमान रूप में बहुमुखी हो जाये। वास्तव में कोई विभाजन नहीं है, मेरे अंदर जो आत्मा है वह वही आत्मा है जो तुम्हारे अंदर है और उधर सूर्य में भी है। आध्यात्मिक जीवन का ऐक्य सभी सच्चे धर्मों और सच्ची नैतिकता का आधार है। निश्चय ही हम जानते हैं कि जैसे भगवान् अपनी सृष्टि में समाये हुए नहीं हैं बल्कि सृष्टि उनके अंदर समाई हुई है उसी तरह भगवान् मनुष्य के अंदर समाये हुए नहीं हैं। जब श्रुति किसी और स्थल पर कहती है कि पुरुष हमारी सत्ता के हृदय में सोया हुआ है और अंगुष्ठ मात्र से बड़ा नहीं है तो इसका मतलब केवल यह होता है कि अविद्या के अधीनस्थ व्यक्ति के मन के लिये उसका शरीर, उसका प्राण, मन, बुद्धि इतने अधिक बड़े हैं कि आत्मा एक छोटी, अविभेद्य चीज मालूम होती है जो बहुत-से कोषों और आवरणों में छिपी है। लेकिन वस्तुतः प्रतीयमान मनुष्य को रूप देनेवाले शरीर, प्राण, मन और बुद्धि तुच्छ और नगण्य से हैं और आत्मा या सच्चा मनुष्य महान्, विशाल और प्रबल है। यथार्थ प्रतीयमान मनुष्य में नहीं बल्कि प्रतीयमान मनुष्य यथार्थ के अंदर तथा उसके द्वारा अस्तित्व रखता है; शरीर अंतरात्मा के अंदर है, अंतरात्मा शरीर के अंदर नहीं। फिर भी भाषा की सुविधा और अपनी सीमित समझ के लिये हम यह कहने के लिये बाधित हैं कि आत्मा शरीर में है और भगवान् मनुष्य के अंदर; क्योंकि इसी तरह वह अपने-आपको हमारे आगे—जो मानसिक दृष्टिबिंदु और सांत समझकर उपयोग करते हैं—प्रस्तुत करते हैं। हमारे दृष्टिकोण से ईश अपने सभी प्राणियों के अंदर निवास करते हैं और वे ही अपने सभी प्राणियों की सत्य-आत्मा हैं। मेरी आत्मा और तुम्हारी आत्मा सचमुच दो नहीं, एक ही हैं। यह दूसरा सत्य है जो युक्तियुक्त रूप से पहले से आता है जिसे कर्म-योगी को मजबूती से पकड़े रखना चाहिये।

५—निःस्वार्थता, कर्मयोग का आधारभूत नियम

एकमात्र दिव्य परमार्थ तत्त्व के आधारभूत सत्य से, जो समस्त दृश्य वस्तुओं में व्यापक और उसको घेरे हुए है, तथा इसके अन्तर्निहित परिणाम यानी मेरी और तुम्हारी आत्मा के तादात्म्य से उपनिषद् कर्म का एक ऐसा नियम बनाता है जो सभी कर्मयोगियों के लिये उपयोगी है। “जगत् का त्याग कर दो ताकि तुम उसे भोग सको, किसी और के धन के लिये लोभ न करो।” जो अपनी अन्तरात्मा की रक्षा करना चाहता है उसे पहले उसे खोना होगा, जो जगत् का भोग करना चाहता है उसे पहले उसे त्यागना होगा। इस तरह उपनिषद् एक बौद्धिक विरोधाभास से नैतिक विरोधाभास की ओर जाता है, लेकिन फिर भी दोनों गहरे और यथार्थ सत्य के निरूपण हैं। पहले तर्क-बुद्धि ऐसी आत्म-विरोधी स्थापना के विरुद्ध विद्रोह करती है, अगर मैं अपने भोजन को अपने से दूर रख दूँ तो मैं उसका भोग कैसे कर सकता हूँ? अगर मैं अपने हाथ की अशर्फी को फेंक दूँ तो कोई और तो उसे पाने का आनन्द पा सकता है पर मैं कैसे पा सकता हूँ? मुझ देवदत्त से कहा जाता है कि सारे जगत् का भोग करूँ, हाँ, जगत् में जो कुछ है उस सबका भोग करूँ लेकिन मैं देखता हूँ कि मेरे पास भोगने लायक है ही बहुत कम जब कि मेरे पड़ोसी हरिश्चन्द्र के पास अनगिनत संपदा है। अगर मुझे जगत् को भोगना है तो मैं अपने उद्देश्य की ओर कैसे बढ़ूँ? निश्चय ही उस थोड़े-बहुत को भी त्याग कर नहीं जो मेरे पास है, बल्कि उसे अच्छी तरह कब्जे में रखकर जो मेरे पास है और उसमें वह जोड़कर जो हरिश्चन्द्र के पास है। प्राकृतिक मनुष्य यही युक्ति देगा और उसकी दृष्टि से यह है भी तर्क-संगत, लेकिन कर्मयोगी यह युक्ति न देगा। वह किसी की धन-संपदा पर लालचभरी दृष्टि न डालेगा क्योंकि वह जानता है कि उसे जो गुप्त तथा महान् सत्य हस्तगत हुआ है उसके प्रकाश में संपदा, मेरी, तेरी आदि गलत तथा भ्रामक परिभाषाएँ हैं। उसने पाया है कि सारे संसार में कोई भी यथार्थ, वांछनीय आनन्द के नाम से पुकारे जाने योग्य वस्तु नहीं है—अपवाद है एक ब्रह्म, वस्तुओं की शाश्वत परमार्थता। आत्म-तुष्टि और संपदा पर

अधिकार करना और उसे भोगना क्षणिक और भ्रामक है और उनके साथ अनिवार्य दुःख और कष्ट रहते हैं, परन्तु ब्रह्म के साथ तादात्म्य का रस लेना और उसे प्राप्त करना शुद्ध, कभी क्षुब्ध न होनेवाला आनन्द है। मैं उसे जितना अधिक प्राप्त कर सकूँ उतना ही अधिक और पूर्णता के निकट होगा मेरा आनन्द। तो ब्रह्म ही एकमात्र संपदा है जिसके लिये कर्मयोगी लालसा करेगा, लेकिन हम ब्रह्म पर अधिकार कैसे कर सकते हैं ? दुनियाभर की सभी चीजों को 'उससे' घेर कर, सभी चीजों में उसका अनुभव कर के। अगर मैं धनवान् हूँ तो मेरे ईश उस धन में विद्यमान हैं, लेकिन अगर मैं गरीब हूँ तो ईश मेरी गरीबी में भी हैं। उनकी उपस्थिति के कारण मैं अपनी गरीबी में भी वही रस ले सकता हूँ जो मैंने धन-संपदा में लिया था, क्योंकि धन-संपदा या शक्ति का मूल्य नहीं है, वे वास्तविक नहीं हैं परन्तु मूल्य है सभी वस्तुओं में ईश की उपस्थिति अनुभव करने का। यह एक तरीका है जिससे मैं जगत् को त्याग कर उसका भोग कर सकता हूँ; क्योंकि जगत् ब्रह्म है, जगत् ईश है और जिसने इसका अनुभव कर लिया है उसके लिये सभी चीजें आनन्द हैं, सभी चीजें भोग हैं। तब फिर दूसरों की धन-संपदा पर लोभभरी नजर डालने का कारण ही क्या रह गया ? हरिश्चन्द्र के पास इतना अधिक सोना, इतने मकान इतनी जमीन-जायदाद और सरकारी कागज हैं लेकिन मैं देवदत्त अपनी कुटिया में सारे विश्व के स्वामी से युक्त हूँ और सारे जगत् का स्वामी और भोक्ता हूँ। सचमुच मैं समृद्ध हूँ, हरिश्चन्द्र नहीं। कर्मयोगी के लिये उसकी साधना की यही परिपूर्ति है।

अब हम जरा निचली सीढ़ियों पर उतरें। मैं अभीतक जीने के ऊपर नहीं चढ़ा हूँ, चढ़ रहा हूँ। मैंने अभीतक सभी वस्तुओं को घेरे हुए ईश की उपस्थिति को एकमात्र सद्रस्तु माननेवाली अभ्यासगत चेतना प्राप्त नहीं की है जिसके हेतु ही सभी क्षणिक प्रपञ्च मूल्यवान् या वांछनीय हैं। विकास की इस अधकचरी स्थिति में कर्मयोगी अन्यो की धन-संपदा के लिये लोभ और कामना से कैसे बच सकता है ? निःस्वार्थ कर्म और निःस्वार्थ मन की आदत के परम आनन्द को अधिकाधिक चरितार्थ कर के। उसके लक्ष्य का यही रास्ता है, यही उसकी सीढ़ी है। साधारणतः यह कल्पना की जाती है कि

निःस्वार्थता आत्मा का त्याग, एक कष्टकर कर्तव्य, एक आत्मपीड़न है जो कुछ नकारात्मक, कष्टप्रद और क्लेशकर चीज है। यह यूरोपीय मनोवृत्ति है, हिन्दू वृत्ति नहीं। यूरोपीय स्वभाव पर शरीर और प्राणिक आवेगों का आधिपत्य होता है। वह परोपकार को एक कर्तव्य, बाहर से आरोपित किया गया कानून, आचार-संहिता और अनुशासन का मानक मानता है; इस प्रकाश में वह मनुष्य की प्रकृति के विपरीत कोई ऐसी चीज है जिसके विरुद्ध मनुष्य की सारी सत्ता विद्रोह करती है। उसे देखने का यह सही तरीका नहीं है। निःस्वार्थता प्रकृति से बाहर की कोई चीज नहीं है, वह नकारात्मक नहीं सकारात्मक चीज है। वह आत्म-पीड़न और आत्म-त्याग न होकर आत्म-वृद्धि और आत्म-परिपूर्ति है। वह कर्तव्य का नियम न होकर आत्म-विकास का नियम है जो कष्टकर न होकर सुखद है। वह प्रकृति के अंदर है पर है प्रच्छन्न जिसे भीतर से विकसित करना होता है। ऊपर से टांकना नहीं होता। कहानी में जो सिंह-शावक भेड़ों के बीच पला था, मांस सामने रखे जानेपर उससे कतराने लगा, लेकिन एक बार उसका रस ले लेने पर उसमें सिंह की वृत्तियां जाग पड़ीं और भेड़ की आदतों में उसे रस न रहा। मनुष्य के साथ भी ऐसा ही होता है। निःस्वार्थता उसका सच्चा स्वभाव है लेकिन शरीर और प्राणिक आवेगों की तुष्टि उसकी आदत बन गयी है। यह उसकी दूसरी या मिथ्या प्रकृति है; क्योंकि उसे शरीर और प्राणिक आवेगों को अपना स्व मान लेने की आदत हो गयी है। सिंह होते हुए उसे अपने-आपको भेड़ मानने की आदत डलवा दी गयी है। वह है तो देव लेकिन उसे सिखाया गया है पशु होना। एक बार वह अपने सच्चे भोजन का स्वाद पा ले और उसमें दिव्य तत्त्व जाग उठे तो फिर पाशविक आदतें उसे संतुष्ट नहीं करतीं और उसमें निःस्वार्थता और निःस्वार्थ कर्म की क्षुधा जाग उठती है, उसी तरह जैसे सिंह अपने स्वाभाविक भोजन के लिये लालायित होता है। हां, यह भावना उसके अंदर, उसकी प्रकृति के खण्डन या उल्लंघन के रूप में न जगायी जाये बल्कि इसे उसकी प्रकृति की परिपूर्ति के रूप में विकसित किया जाये। जो मनुष्य निःस्वार्थता को कर्तव्य के रूप में देखता है उसने अभीतक सच्चे परोपकार का ककहरा तक नहीं

सीखा; जो मनुष्य उसे आनन्द के रूप में, स्वाभाविक लालसा के रूप में अनुभव करता है उसीने सीखने का सच्चा मार्ग अपनाया है। इस मामले में हिन्दू दृष्टिकोण ही सच्चा दृष्टिकोण है। हिन्दू उस आदमी को निःस्वार्थ मनुष्य नहीं कहता जो कामना की तुष्टि से ऊपर उठ गया हो, उसे तो आत्मवान् कहा जाता है, दूसरा आदमी अनात्मवान् है,—ऐसा आदमी जिसने अपने-आपको नहीं पाया है—जो अब भी अपने शरीर और प्राण के आवेगों की तुष्टि से चिपटा रहता है। उस महान् आत्म-त्याग में नाटक, नागानन्द, को पढ़ो तो तुम्हें पता लगेगा कि हिन्दू दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकोण से कितना भिन्न है; यहां आत्म-त्याग कोई पीड़ादायक भयकर संघर्ष न होकर प्रकृति का भव्य उद्गार, भावपूर्ण आनन्द है। हम स्वार्थपरता के किसी कार्य के बारे में दयापूर्ण भाव से कह देते हैं, “यह तो मानव स्वभाव है”, यह एक भूल और बहुत बड़ी भूल है। यह मानव स्वभाव नहीं, पशु स्वभाव है। मानव स्वभाव दिव्य और निःस्वार्थपूर्ण होता है और औसत स्वार्थी मनुष्य इसलिये स्वार्थी नहीं होता कि वह मानव है बल्कि उसकी मानवता अभीतक अविकसित और अपूर्ण है। ईसा और बुद्ध पूर्ण मानव हैं, राम, श्याम, जदु केवल पशु हैं जो धीरे-धीरे मनुष्य का रूप धारण कर रहे हैं।

६—परहितवाद का दार्शनिक औचित्य

इस दृष्टिकोण का दार्शनिक औचित्य वेदान्त के आधारभूत सूत्र ‘सोऽहम्’ से मिलता है। मैं वह हूँ, तू भी वह है अतः कोई और तू नहीं है। केवल वही है। वह, ब्रह्म, ईश ही मेरी सच्ची आत्मा है, वही सच्चा देवदत्त है; ब्रह्म, ईश ही मेरे पड़ोसी की सच्ची आत्मा है। सच्चा हरिश्चन्द्र है। अतः वास्तव में कोई देवदत्त या हरिश्चन्द्र नहीं है बल्कि मेरी आत्मा ही देवदत्त कहलानेवाली मानसिक और शारीरिक मंजूषा में है और हरिश्चन्द्र कहलानेवाली शारीरिक और मानसिक मंजूषा में भी मेरी ही आत्मा है; तो अगर हरिश्चन्द्र असीम धन-दौलत का भोग करता है तो मैं उसका भोग कर रहा हूँ क्योंकि हरिश्चन्द्र मेरी ही आत्मा है—मेरा वह शरीर नहीं जिसमें मैं बंदी हूँ, मेरी वे कामनाएं नहीं जिनके द्वारा मेरा शरीर दुःखी और दयनीय बन

जाता है, बल्कि मेरी सच्ची आत्मा, मेरे अंदर पुरुष या वास्तविक मनुष्य है जो इस समस्त मधुर, कटु, कोमल, विशाल, सुंदर, भयंकर, सुखद, भयानक, पूर्णतया अद्भुत और जगत् के आनन्दप्रद नाटक का साक्षी और भोक्ता है, उस नाटक का जिसका अभिनय प्रकृति उसके सुख के लिये करती है। एक बार मैं इस सत्य का अनुभव कर लूं तो मैं हरिश्चन्द्र की सम्पत्ति का वैसे ही मजा ले सकता हूं मानो मैं स्वयं उसका भोग कर रहा हूं क्योंकि उसके बाद मैं अपनी आत्मा में से निकलकर हरिश्चन्द्र की आत्मा में इस तरह प्रवेश कर सकता हूं कि उसका सुख मेरा अपना सुख हो जाता है। यह करने के लिये मुझे केवल संबंधों के उस काल्पनिक अवरोध को तोड़ना होगा जो मेरे अहं के भाव को मेरे शरीर, प्राण और मनतक ही सीमित रखता है। मानवजाति का यह सामान्य अनुभव है कि ऐसा किया जा सकता है जिसे प्रेम का नाम दिया गया है। मानव-विकास प्रेम द्वारा और प्रेम की ओर उठता है, इस सत्य को सभी महान् धर्म सहज रूप से स्वीकार करते हैं, चाहे वे उसके लिये कोई दार्शनिक औचित्य न प्रदान कर सकें, फिर भी वे इस सिद्धांत को उच्चतम महत्त्व देते हैं। ईसाई धर्म का एकमात्र विधान जो अन्य सभी आदेशों का स्थान ले लेता है वह है अपने पड़ोसी से अपनी ही तरह प्रेम करो। बौद्ध धर्म का नैतिक आदर्श है अन्यो की निःस्वार्थ शुभ-चिन्ता और परोपकार; हिन्दू धर्म का नैतिक आदर्श है ऐसा पूर्ण साधु जिसे औरों का भला करने में ही आनन्द आता है, जिसे बस इसी की चिन्ता रहती है—‘सर्वभूतहितरतः’। आदर्श हमेशा वही रहता है, जोर अलग-अलग स्थानों पर दिया जाता है। लेकिन धर्म प्रेम शब्द को जो अर्थ देता है वह निर्भर है अपनी आत्मा को औरों के अंदर चरितार्थ करने पर। यदि, जैसा कि ईसाइयत और सांख्य का मत है, करोड़ों विभिन्न पुरुष हैं, अगर मेरे अंदर का वास्तविक मनुष्य, किसी और के अंदर के वास्तविक पुरुष से भिन्न है, जाति में एक होते हुए भी सारतत्त्व में एक नहीं है तब तो तादात्म्य की कोई अनुभूति नहीं हो सकती, केवल मानसिक या भौतिक संपर्क हो सकता है। जड़ भौतिक संपर्क में आवेग और घृणा की पाशविक भावनाओं के सिवाय और कोई चीज नहीं उठ सकती। मानसिक संपर्क से

जैसे आकर्षण के उठने की संभावना है उसी तरह विकर्षण या जुगुप्सा की भी। एक पृथक् व्यक्तिगत आत्मा अपना ही जीवन जियेगी, अपनी ही तुष्टि या अपनी ही मुक्ति का अनुसरण करेगी। उसके पास किसी और के साथ अपनी ही तरह प्रेम करने के लिये कोई आवेश या कोई कारण न होगा क्योंकि वह यह अनुभव नहीं कर सकती कि दूसरा व्यक्ति भी वह स्वयं है। इस उच्चतर या आध्यात्मिक प्रेम की व्याख्या वेदान्त ही दे सकता है, इस अनुभूति के साथ कि आत्मा एक ही है और समस्त विभाजन काल्पनिक है। इस गहन अभिव्यक्तिकारी सत्य के प्रकाश में परोपकार स्वाभाविक, उचित और अनिवार्य बन जाता है। वह स्वाभाविक होता है क्योंकि मैं वास्तव में अपनी अपेक्षा किसी और को अधिक पसंद नहीं कर रहा हूँ बल्कि अपनी विशालतर, सत्यतर आत्मा को अपने अधिक संकीर्ण और मिथ्या स्व के स्थान पर पसंद कर रहा हूँ, भगवान् को पसंद कर रहा हूँ जो मेरे एकाकी शरीर और मन के लिये सब में हैं, वह भगवान् जो देवदत्त और हरिश्चन्द्र दोनों में मैं ही हूँ और जो केवल देवदत्त में भी मैं ही हूँ। यह ठीक है क्योंकि हरिश्चन्द्र के भोग को अपने भोग के साथ जोड़कर, अपनी भावनाओं के क्षेत्र में उनका आलिंगन करके मैं ब्रह्म की विश्वव्यापकता के अपने ज्ञान को एक अनुभूति बना लूंगा, केवल एक मानसिक कल्पना या स्वीकृति नहीं, क्योंकि बौद्धिक कल्पना नहीं बल्कि अनुभूति ही सच्चा ज्ञान है। वह अनिवार्य है क्योंकि विकास का मेरा यही तरीका है। जैसे मैं पशु से मनुष्यतक उठा हूँ उसी तरह मुझे मनुष्य से भगवान्तक उठना चाहिये। लेकिन परम देवत्व का आधार है सभी चीजों के अंदर अपनी आत्मा की अनुभूति। विकास का सच्चा लक्ष्य और उद्देश्य है वैश्व ब्रह्म की विशाल और विशालतर उपलब्धि। हम उस लक्ष्य की ओर प्रगति करते हैं, फिर वह चाहे जितनी सुस्ती के साथ, चाहे जितनी भूलों के साथ क्यों न हो लेकिन अनिवार्य रूप से होती है जड़ तत्व के मिथ्यात्व से आत्मा के सत्य की ओर प्रगति। हम अपने पीछे पहले तो अकर्मण्यता, पाशविकता, अज्ञान, क्रोध, काम, लोभ, पाशविक हिंसा या जिसे हम अपने दर्शन में तामसिक स्थिति कहते हैं उसे छोड़कर विभिन्न मानव क्रिया-कलाप और ऊर्जा, राजसिक

स्थिति की ओर उठते हैं और फिर उससे हमें सात्विक स्थितिक दिव्य साम्यावस्था, मन की स्पष्टता, अन्तरात्मा की स्वच्छता, उच्च निःस्वार्थता, दया, सभी प्राणियों के लिये प्रेम, सत्य, निष्कपटता और शांति की ओर उठना चाहिये। यह दिव्य उच्चता भी उच्चतम नहीं है। हमें उसे भी पीछे छोड़कर सभी वस्तुओं के शिखरतक चढ़ना चाहिये जहां विराजते हैं उज्ज्वल और आवेगविहीन सबके स्वामी जो अपनी भव्यता की एक किरण से करोड़ों विश्वों को प्रकाशित करते हैं। उस स्तब्ध शिखर पर हम अपनी आत्मा के न केवल अन्यो की आत्मा के साथ बल्कि सर्वात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करेंगे जो सबका ईश, ब्रह्म है। हमारा विकास ब्रह्म के अंदर अपना बृहत् लक्ष्य और विश्राम पाता है।

७—त्याग का अर्थ

अतः कर्मयोगी जगत् का भोग करने के लिये उसका त्याग करेगा। वह सिकन्दर की तरह भौतिक रूप से सारे जगत् पर प्रभुत्व पाने की कोशिश न करेगा बल्कि देवताओं की तरह उस पर अपनी आत्मा में अधिकार करेगा। वह अपने-आपको अपनी सीमित सत्ता में खो देगा ताकि वह अपने-आपको अन्य सभी की सत्ताओं के अंदर अनन्त रूप से पा ले। जगत् के त्याग का अर्थ इससे कुछ कम नहीं होता कि हम अपने तुच्छ आनन्द और सुख को त्याग दें ताकि दूसरों के आनन्द में आंखोंतक नहा सकें। एक मनुष्य का सुख इतना अधिक महान् हो सकता है जितना तुम चाहो, सैकड़ों का संयुक्त सुख निश्चित रूप से अधिक होगा। भोग को त्याग कर तुम अपने भोग को सौगुना अधिक कर सकते हो। सच्चे प्रेमी का सदा यह विशेषाधिकार रहा है। अगर तुम किसी नारी के सच्चे प्रेमी हो तो अपनी खुशियों की अपेक्षा उसकी खुशियां तुम्हें कहीं अधिक सुखी बनाएंगी; अगर तुम अपने मित्रों के सच्चे प्रेमी हो तो उनकी सुख-समृद्धि और उनके दमकते चेहरे तुम्हें ऐसा आनन्द देंगे जिसे तुम कभी अपने छोटे, सीमित सुखों में न पा सकते; अगर तुम अपने राष्ट्र के सच्चे प्रेमी हो तो उसके लाखों लोगों की खुशी, उनकी महिमा और धन-सम्पदा तुम्हारी होगी; अगर तुम मानव जाति के सच्चे प्रेमी

हो तो धरती के अनगिनत लोगों के सभी आनन्द तुम्हारी आत्मा के द्वारा अमृत-सागर की तरह बहेंगे। तुम कहोगे कि उनके दुःख भी तुम्हारे होंगे; लेकिन क्या जिनसे तुम प्रेम करते हो उनके दुःखों में हिस्सा बंटाना तुम्हारे अपने सुखों की अपेक्षा अधिक सौभाग्य की बात नहीं है ? उन अन्य सुखों की भी गिनती करो जो तुम्हारे लिये दुःख में साझेदारी ला सकते हैं। अगर तुम्हारे अंदर शक्ति है—और योष हमेशा कुछ शक्ति लेकर आता है—तो तुम्हें अपने मित्र या प्रेमी के दुःख-दर्द में सान्त्वना देने या उसे आनन्द में बदलने का अद्वितीय सुख प्राप्त हो सकता है या उस जाति के कष्टों और पतन को बदलने का जिसके लिये तुम अपनी आहुति देते हो या मानवजाति के दुःखों को बदलने का जिसमें तुम भगवान् को चरितार्थ करने की कोशिश कर रहे हो, इससे बढ़कर सुख क्या होगा ? केवल यह करने का लगातार, दृढ़, अध्यवसायी प्रयास भी अकथनीय आनन्द है। ऐसे उद्देश्य के लिये पराजय भी एक कठोर सुख है जो तुम्हें नूतन और अपराजेय प्रयास के लिये मजबूत बनाती है। और अगर तुम्हारे अन्दर कष्ट-मोचन करने या संघर्ष को आगे जारी रखने की शक्ति नहीं है तब भी तुम्हारे लिये दूसरों के लिये कष्ट झेलने या मरने का आनन्द बना रहता है। “अपने मित्र के लिये मरने से बड़ा प्रेम किसी आदमी के अंदर नहीं होता।” हां उस सबसे बड़े प्रेम का मतलब सबसे बड़ा आनन्द भी होता है। “अपने देश के लिये मरना मधुर और उदात्त चीज है।” कितने देश-प्रेमियों ने अपने अंतिम क्षणों में यह अनुभव किया है कि यह खोखला काव्यात्मक उपदेश नहीं है परन्तु अद्भुत, वर्णनातीत वास्तविकता की एक कमजोर-सी न्यूनोक्ति है। लोग कहते हैं कि ईसा ने क्रूस पर यातना पायी ! निस्सन्देह शरीर ने यातना पायी लेकिन क्या सचमुच ईसा ने कष्ट पाया ? क्या उन्होंने अपनी अन्तरात्मा में परम देव के आनन्द का अनुभव नहीं किया ? गेट्समेन की यंत्रणा आनेवाले क्रूसारोपण की यंत्रणा न थी, उन्होंने जिस जहर के प्याले को दूर करने के लिये प्रार्थना की थी वह शारीरिक यंत्रणाओं का प्याला न होकर मानवजाति के पापों का प्याला था जिसे पीने के लिये उन्हें धरती पर भेजा गया था। अगर ऐसी बात न होती तो हमें कहना पड़ता कि यह ईसामसीह, भगवान् का पुत्र या

वह अवतार न था जिसने यह कहने का साहस किया था कि "मैं और मेरे पिता एक हैं," बल्कि वह कोई दीन, कमजोर मनुष्य था जो माया के फेर में आकर अपने शरीर को ही अपनी आत्मा मान बैठा था। हमेशा याद रखो कि शाश्वत अपने-आपको पूरी तरह उसे नहीं देते जिसकी आत्मा दुर्बल हो, शक्तिशाली, शूरवीर आत्मा ही भगवान्तक पहुंचती है। दूसरे केवल दूर से उनकी छाया का स्पर्श कर सकते हैं—*ध्नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्*—यह आत्मा किसी बलहीन को प्राप्त नहीं होती और न तप में प्रमाद करनेवालों को।

कर्मयोगी से जिस जगत् के त्याग की मांग की जाती है वह आवश्यक रूप से भौतिक त्याग ही नहीं है। तुमसे अपने घर-बार, पुत्र-कलत्र और मित्रों को त्यागने के लिये नहीं कहा जाता। तुम्हें जिस चीज का त्याग करना है वह है उनके लिये स्वार्थभरी कामना और उन्हें अपनी चल, अचल सम्पत्ति मानने की आदत जो तुम्हें सुख देने के लिये तुम्हारे हैं। तुम से यह नहीं कहा जाता कि अपनी कामना के विषयों को फेंक दो बल्कि यह कि उन्हें अपने हृदय से त्याग दो। तुम्हें उस कामना से अलग होना चाहिये, कामना के विषयों से नहीं। अतः तुमसे जिस त्याग की मांग की जाती है वह आध्यात्मिक त्याग है, एक ऐसी शक्ति जिससे तुम अपनी भौतिक सम्पत्ति का ऐसे अनासक्त भाव से भोग कर सको कि तुम उन्हें पाकर आनन्द-विह्वल न हो उठो और न उन्हें खोकर नीचे की ओर लुढ़क जाओ—यह उसकी वास्तविकता की परख है—केवल उनकी उपस्थिति से नौ दो ग्यारह होना नहीं, जो केवल प्रलोभनों से भाग निकलना है। कर्मयोगी को जगत् में रहना और उसे जीतना है, उसे यह अनुमति नहीं है कि वह संघर्ष के दृश्य से भाग निकले या रण को छोड़ भागे। जीवन में उसकी भूमिका शूरवीर की भूमिका है—जो एक गुण उसमें होना ही चाहिये वह है सिंहसदृश साहस जो अपने आध्यात्मिक शत्रुओं को उनके अपने देश में उन्हींके दुर्ग में चुनौती देगा और अपने पैरों तले कुचल देगा। तो केवल आध्यात्मिक त्याग—शरीर तो केवल आत्मा के खोल का काम देता है—कर्मयोगी को अपने सभी प्रयास आत्मा पर ही केन्द्रित करने चाहियें। शरीर को शुद्ध करना अच्छा है,

केवल इसलिये कि तब आत्मा को शुद्ध करना ज्यादा आसान होता है, परन्तु अपने-आपमें उसका कोई महत्त्व नहीं; लेकिन अगर आत्मा शुद्ध है तो कोई अशुद्धि शरीर को छूतक नहीं सकती। अगर आत्मा कामना से कलुषित नहीं है तो कामना के विषयों का भौतिक भोग उसपर दाग नहीं लगा सकता; क्योंकि अगर मेरी आत्मा नयी सम्पदा के लिये लालायित नहीं है या जो सम्पदा मेरे पास है उससे चिपकी हुई नहीं है तो मेरी सम्पदा का उपयोग निःसंदेह निस्स्वार्थ और अकलुष होगा और एक बार भाव में उनसे अलग होकर, उन्हें भगवान् के कोष में जमा करके मैं सचमुच उन पर अधिकार का रस ले सकता हूँ। वह भोग स्पष्ट, गहन, शाश्वत और स्थिर होता है, भाग्य उसे तोड़ नहीं सकता, डाकू उसे लूट नहीं सकते, शत्रु उसे अभिभूत नहीं कर सकते। स्वामित्व का अन्य सारा उल्लास उतार-चढ़ाववाला, भय, दुःख, कष्ट और आवेश से टूटा-फूटा होता है—उसके बढ़ने के लिये आवेश, उसे सुरक्षित रखने के कष्ट, उसके हास के दुःख, उसके खो जाने के डर से टूटा-फूटा रहता है। आवेगरहित भोग ही शुद्ध और अमिश्रित आनन्द है। अगर वस्तुतः तुम भौतिक रूप से और साथ ही साथ भावना में धन-संपदा का त्याग करना चाहो तो यह भी अच्छा है बशर्ते कि तुम यह ध्यान में रखो कि तुम उनके विचार को अपने मन में नहीं पोस रहे। एक और भी अजीब-सा विधान है जिसका अनुभव बहुत-से ऐसे लोगों को हुआ है जिन्होंने आध्यात्मिक त्याग का मार्ग अपनाया है। वह यह है कि ऐसे त्याग से धन-संपदा में ऐसी विशेष प्रवृत्ति होती है कि वह उसको ढूँढ़ती है जिसने धन-संपदा को ढूँढ़ना छोड़ दिया है। धन के लिये प्रकृति की एक प्रबल और सक्षम इच्छा-शक्ति, जो धन कमाने पर डटी हो, वह निश्चय ही अपनी कामना को पूरा कर लेगी परन्तु लगभग उतनी ही प्रायिकता के साथ धन, ख्याति और सफलता उस आदमी से भागती हैं जो उनका पीछा करता है और उसके पास आती हैं जिसने अपनी लालसाओं को जीत लिया है। उनका प्रेमी बहुधा उन्हें पाये बिना ही नष्ट हो जाता है या पाप की गहरी दलदल या कठिनाइयों के नरक से होकर या परिश्रम के पहाड़ को पार करके उनतक पहुंचता है जब कि जिस आदमी ने उनकी ओर से मुंह मोड़

लिया है देखता है कि वे उसके चरणों पर गिरने के लिये भीड़ कर रहे हैं। तब वह या तो उनका भोग कर सकता है या उन्हें त्याग सकता है। दूसरा महान् पथ है जिसे अनगिनत साधु-सन्तों ने चुना है। लेकिन कर्मयोगी उन्हें भोग सकता है, निश्चय ही अपने व्यक्तिगत सुख के लिये नहीं, अपने मिथ्या स्व के लिये नहीं क्योंकि वह उस प्रकार के भोग को अपने हृदय से त्याग चुका है, बल्कि वह उनके अंदर भगवान् और भगवान् के अंदर उनका रस ले सकता है। जैसे राजा नजराने को छू भर देता है और फिर सरकारी खजाने को दे देता है उसी तरह कर्मयोगी अपने पास आनेवाली धन-संपत्ति को केवल छू कर अपने चारों ओर के लोगों के लिये, गरीबों के लिये, कार्यकर्ता के लिये, अपने देश और मानव जाति के लिये आगे बढ़ा देता है क्योंकि वह इन सबके अंदर ब्रह्म को देखता है। अगर महिमा उसके पास आती है तो वह उसे अचंचल, स्थिर, विनीत पदों में ढक देगा और उससे मिलनेवाले प्रभाव का उपयोग अपने लिये नहीं बल्कि मनुष्यों की अधिक प्रभावशाली ढंग से सहायता करने में, उनकी आवश्यकताएं पूरी करने में या उन्हें भगवान् की ओर उठाने में करेगा। ऐसा आदमी शीघ्र ही सुख, दुःख, सफलता, असफलता, विजय, पराजय से ऊपर उठ जायेगा क्योंकि वह दुःख में और सुख में अपने-आपको भगवान् के नजदीक अनुभव करेगा। वह निकटता सतत साहचर्य में बदल जायेगी और फिर साहचर्य से वह अधिकाधिक भगवान् के आध्यात्मिक बिम्ब में विकसित होता जायेगा। यहांतक कि वह अन्तिम शिखरतक जा पहुंचता है जब मनुष्य यानी वह भगवान् जो अपने देवत्व को भूल गया है, पूरी तरह से याद कर लेता है और शाश्वत बन जाता है। तो निःस्वार्थता ही त्याग का एकमात्र और वास्तविक विधान है। औरों के अन्दर अपनी बृहत्तर आत्मा के प्रेम में उसका उत्थान होता है। सभी पार्थिव वस्तुओं में भागवत उपस्थिति की अनुभूति से ब्रह्म की जड़ें जम जाती हैं और वे हिलाये नहीं हिलतीं। ब्रह्म की सिद्धि ही उसकी पूर्णता और उसका लक्ष्य है।

अध्याय २

१—कर्म द्वारा मुक्ति

प्राचीन काल से हिन्दू चेतना को जो गहरी और पेचीदा समस्या तंग करती आयी है उसके समाधानस्वरूप सबसे महान् गुरु श्रीकृष्ण ने केवल भौतिक त्याग की जगह आध्यात्मिक त्याग के विधान की घोषणा की थी। जैसा कि हम जानते हैं, मुक्ति के तीन मार्ग हैं : ज्ञान द्वारा मुक्ति जिसका बौद्ध धर्म में केन्द्रीय स्थान है, श्रद्धा और प्रेम द्वारा मुक्ति जो ईसाइयत में केन्द्रीय है और श्रद्धा तथा कर्म द्वारा मुक्ति जो इस्लाम की केन्द्रीय स्थिति है। हिन्दू अर्थात् सनातन धर्म ने इन तीनों पथों को समान रूप से स्वीकार कर लिया है लेकिन इन तीनों में हिन्दू धर्म की विशिष्ट और केन्द्रीय धार्मिक अनुभूति—आत्मा की यथार्थता और शाश्वतता और बाकी सबकी क्षणभंगुरता और अयथार्थता—पर पथ-प्रदर्शक तत्त्व और अनिवार्य भाव के रूप में जोर दिया जाता है। यह वह सेतु है जो तुम्हें अमरता की ओर ले जाता है, यह मुक्ति का द्वार है। ज्ञानमार्गी केवल एक यथार्थता, ब्रह्म, को मानता है और उस सबसे मुंह मोड़कर जो आभासी है और उसे खोजकर जो अपने-आपमें एकमात्र यथार्थता है, शाश्वत की सत्ता में प्रवेश कर जाता है। भक्त केवल दो यथार्थताओं को देखता है; एक तो भगवान्, दूसरे वह स्वयं, और प्रेम तथा आराधना द्वारा भगवान् के साथ आनन्दमय ऐक्य से शुद्ध और अमिश्र शाश्वत की उपस्थिति में प्रवेश करता है। कर्मयोगी तीन यथार्थताओं को मानता है जो एक ही हैं : अपने-आपमें शाश्वत जो शुद्ध और एक तथा अद्वितीय है, परात्पर इच्छा या शक्ति के रूप में, यथार्थतः नहीं बल्कि प्रपञ्च रूप में वैश्व कर्म में प्रकट होनेवाले शाश्वत और जीवात्मा में शाश्वत, जो अपने-आपको व्यष्टिगत कार्य में सान्त् शरीर में प्रकट करते हैं। और वे भी कामना को त्याग कर और अपने कर्म भगवान् को अर्पित करके शाश्वत के साथ सादृश्य प्राप्त करते हैं और उस द्वार में से शाश्वत के साथ तादात्म्य में प्रवेश करते हैं। एक बात में ये सब सहमत हैं और वह है प्रपञ्चात्मक जीवन की क्षणभंगुरता और अयथार्थता। लेकिन अगर प्रपञ्चात्मक जीवन

अयथार्थ है तो फिर जगत् में रहने का लाभ ही क्या है ? चलो, हम घर-बार, धन-धान्य, पुत्र-कलत्र और मित्र-मण्डली त्याग कर वन-पर्वतों के एकान्त में भाग चलें और जितनी जल्दी हो सके ज्ञान-ध्यान द्वारा इस प्रपंचमय जगत् को छोड़ चलें। बौद्ध काल से पहले और उसके पीछे जब हिन्दू चेतना पर ज्ञान-मार्ग की शक्ति का बोल-बाला था तो भारत में यही पुकार उठी थी। भक्त की भाषा भी इससे बहुत भिन्न नहीं होती, 'चलो हम सांसारिक वस्तुओं को त्याग दें, हम केवल हरि का नाम लें, उसी को भजें और सबको भुला दें'। दोनों ने इस बात पर जोर दिया है कि कर्म और जगत् फंसे हैं, बंधन हैं जिनसे भागना ही श्रेयस्कर है। केवल कर्मयोगी ने ही अपने-आपको इस घारा के विरुद्ध खड़ा रखा है और इस वैश्व हलचल के बीच में, प्रपंच की बाढ़ में, प्रवाह में बहे बिना स्थिर रखा है। उसने कहा है कि जो लोग जगत् में रहते हैं उनमें से कम ही हैं जो जगत् से ऊपर उठ कर शाश्वत के सायुज्य में रह सकते हैं, लेकिन वन-पर्वतों में भागनेवालों में भी ऐसे कम ही हैं जो सचमुच 'उन्हें' पाते हैं और जो अपने दिन हरि हरि पुकारने में ही बिता देते हैं उनमें भी ऐसे कम ही हैं जिन्हें वे अपनाते हैं जो उन्हें पुकारते हैं। सदा पुकार बहुतों की होती है लेकिन कुछ ही चुने जाते हैं। और अगर जनक बड़े राजाओं के पूरे ठाठ-बाट, वैभव और शक्ति में रहते हुए सदा भगवान् के साथ रह सकते हैं और यदि राम और श्रीकृष्ण धरती पर रहते हुए, जगत् के कार्य करते हुए भी भगवान् थे तो कौन कह सकता है कि मुक्ति कर्मों के बीच नहीं पायी जा सकती या कर्म को यंत्र बनाकर नहीं पायी जा सकती ? इस विवाद में श्रीकृष्ण का उत्तर एकमात्र समाधान है। एकमात्र आवश्यक वस्तु है अपने अंदर भाव में से कामना का परित्याग। अगर तुम यह न कर सको तो वन-पर्वतों के एकान्त में बैठकर योगाभ्यास करना बेकार है, सवेरे से राततक हरि के गीत गाना और प्रभु, प्रभु चिल्लाना बेकार है, "जगत् में अपने कर्तव्य कर्म करते हुए" सुरक्षा की आशा करना व्यर्थ है। जो मनुष्य कामनाओं से शुद्ध नहीं हुआ वह चाहे जिस मार्ग का अनुसरण करे, वह मुक्ति नहीं पायेगा। लेकिन अगर वह अपने अन्तर को कामना से शुद्ध कर ले तो चाहे वह एकाकी पर्वतों पर

रहे या शेरों से भरे जंगल में, सुन्दर वृन्दावन में रहे या राजा के दरबार में, व्यापारी की दुकान में या किसान की झोंपड़ी में, मुक्ति उसकी पकड़ में होगी। क्योंकि मुक्ति की शर्त है अपने निम्नतर अवास्तविक स्व को छोड़कर अपनी वास्तविक आत्मा की ओर मुड़ना और निम्नतर सत्ता की छाप, उसका दाग है कामना। कामनाओं से पीछा छुड़ा लो और शाश्वत के द्वार तुम्हारी अन्तरात्मा के प्रवेश के लिये पूरी तरह खुले होंगे। उस संन्यासी का मार्ग, जो जगत् को त्यागकर अपने-आपको ज्ञान या भक्ति के अर्पित करता है, एक अच्छा मार्ग है और इससे अच्छा कोई नहीं है; लेकिन उस त्यागी का मार्ग जो इंद्रियों के विषयों और कर्म के भँवरों में रहता है, पहली चीज को पोसता नहीं और दूसरी के वेग के आगे झुक नहीं जाता, यही कर्मयोगी के लिये उचित मार्ग है, उपनिषद् पूरे जोर के साथ इसे कर्मयोगी के दूसरे आचरण के नियम के रूप में स्थापित करना चाहता है।

“वस्तुतः अपने कर्म जगत् में करता चल और सौ वर्ष जीने की इच्छा कर क्योंकि इस तरह, और इसके सिवा तैरे लिये और कोई मार्ग नहीं है, कर्म मनुष्य से चिपकता नहीं है।”

जब मनुष्य अपनी प्रकृति के सभी नियमों का पालन करता है, शुद्ध भोजन, शुद्ध रहन-सहन, शुद्ध विचार और अपनी कामनाओं की दृष्टि में आत्म-संयम रखता है तो उसके जीवन की पूर्ण अवधि होती है सौ वर्ष। यह अवधि प्रायः लापरवाही, पाप, दूषण या अन्य जीवनो में किये गये पिछले कर्मों से छोटी हो जाती है और दूसरी ओर योग द्वारा यह अवधि सैकड़ों वर्षों तक बढ़ भी सकती है। लेकिन कर्मयोगी न तो अपने जीवन की अवधि को लम्बा करना चाहेगा न छोटा करना। अपने जीवन की अवधि को बढ़ाने का अर्थ होगा अपने बाहरी जीवन को बढ़ाने और उसके साथ चिपके रहने की कामना जो उस त्याग के साथ असंगत है जिसे हमने कर्मयोग के आधारभूत नियम के रूप में देखा है। कुछ महायोगियों ने किसी व्यक्तिगत कामना के बिना अपने जीवन को लम्बा किया है—केवल अपनी उपस्थिति या अपने उदाहरण द्वारा जगत् की सहायता करने के लिये। ये अपवादिक उदाहरण हैं जिन्हें साधारण कर्मयोगी को दृष्टि में रखने की

जरूरत नहीं। दूसरी ओर हमें जीवन से मुंह भी न मोड़ना चाहिये। हमें असमय में अपने शरीर को निकाल फेंकना न चाहिये या अपने शरीर से जल्दी छुटकारा पाने की इच्छा भी न करनी चाहिये; बल्कि खुशी से अपनी अवधि पूरी करनी चाहिये और मनुष्य के जीवन की साधारण अवधि पूरी करने के लिये तैयार रहना चाहिये। और तबतक इस जगत् में अपने कार्य पूरे करते रहना चाहिये। यहां “कुर्वन्” शब्द पर जो जोर दिया गया है और उससे “एव” जोड़ा गया है, उसको ध्यान से देखो, इसकी शक्ति अन्य सब तरह के कर्म, अवस्था, व्यक्ति या वस्तु को अलग कर देती है, रह जाता है केवल वही शब्द जिसके साथ ‘एव’ लगा हो। वस्तुतः हमें इस जगत् में अपने कार्य करने चाहियें, उनसे बचना न चाहिये। भगवान् को पाने के लिये पर्वतों की ओर भागने की कोई जरूरत नहीं। भगवान् कोई पहाड़ी आदमी या सर्प नहीं हैं कि उनकी खोज गुफाओं और शिखरों पर ही करनी चाहिये, वे कोई हरिण या शेर नहीं हैं कि उनका स्थान केवल जंगलों में ही हो। वे यहां हैं, तुम्हारे अंदर और तुम्हारे चारों ओर। वे इन नर, नारियों में हैं जिन्हें तुम रोज देखते हो, जिनसे तुम बातचीत करते हो, जिनके साथ जीवन बिताते हो। तुम उन्हें शहरों के शोर-शराबे में पा सकते हो और पा सकते हो गांव की चुप्पी में। वे वहां हैं। तुम अगर जीवन के शोर-शराबे से बहरे हो गये हो और ध्यान करने के लिये एकान्त चाहते हो तो तुम कुछ समय के लिये पहाड़ों पर जा सकते हो क्योंकि कर्मयोगी के लिये भी ज्ञान जरूरी है और एकान्त ज्ञान की धाय है। तुम गंगा या नर्मदा के तट पर किसी शांत मंदिर या पवित्र आश्रम में भगवान् की आराधना करने के लिये बैठ सकते हो क्योंकि कर्मयोगी के लिये भक्ति भी जरूरी है और ऐसे स्थान जो महान् सन्तों और आवेगपूर्ण ईश्वर-प्रेमियों की भक्ति से ओतप्रोत हैं, वे अन्तरात्मा के अंदर आराधना के भाव को सबसे अच्छी तरह पुष्ट और संतुष्ट करते हैं। लेकिन अगर तुम्हारा मार्ग कर्मयोग का है तो तुम्हें फिर लौटना, संसार की हलचल में रहना होगा। किसी हालत में डरपोक और कमजोर की तरह एकान्त और निष्क्रियता की ओर न भागो—भगवान् को पाने की आशा में नहीं बल्कि इसलिये कि तुम सोचते हो कि तुम जीवन के उस दुःख-दर्द और

दुर्भाग्य से बच सकते हो जिसका सामना करने के लिये तुम बहुत दुर्बल हो। दुर्बल और भीरु लोग ईश्वर की ओर नहीं चढ़ सकते, केवल बलवान् और साहसी ही उठते हैं। हर व्यष्टिगत जीवात्मा को ब्राह्मण बनने से पहले पूर्ण क्षत्रिय बनना होगा। अन्तरात्मा का अपना वर्ण होता है जो शरीर के वर्ण की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चा और गहरा होता है। मनुष्य को पूर्ण होने से पहले चार आत्मिक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है : पहले शूद्र अवस्था में अपनी सत्ता के अंदर स्थित पशु को सौम्य बनाने के लिये सेवा और आज्ञापालन द्वारा, फिर वैश्य बनकर अपने अंदर के निम्नतर मनुष्य को, अपने से भिन्न दूसरों का भला करने में आनन्द का अनुभव करके अपने अंदर नैतिकता के विधान को तुष्ट करके, फिर क्षत्रिय बनकर उन प्राथमिक गुणों में प्रशिक्षित होना जिनके बिना शाश्वत की खोज असम्भव है—यानी साहस, बल, अपराजेय अध्यवसाय, और किसी महान् कार्य के लिये आत्मोत्सर्ग, और अन्त में ब्राह्मण बनकर शरीर, मन और प्रकृति को शुद्ध करना ताकि वह अपने अंदर शाश्वत को उस तरह प्रतिबिम्बित होते देखे जैसे वह अपने-आपको निर्मल दर्पण में देख सकता है। एक बार भगवान् को देख लेने के बाद मनुष्य के जीवन का इसके सिवा कोई और उद्देश्य नहीं हो सकता कि वह भगवान्तक पहुंच सके और उनको पा सके। कर्मयोगी ऐसी अन्तरात्मा है जो पहले ही क्षत्रिय अवस्था में प्रतिष्ठित हो चुकी है और वहां से सरलता से प्राप्य ब्राह्मणत्व द्वारा सीधी तेजी से भगवान् की ओर जाती है। अगर वह साहस और शौर्य की पकड़ को खो बैठे तो वह अपने आधार से गिर जाता है जहां से उसे अपना आध्यात्मिक आकार इतना लम्बा करना है कि उसका हाथ शाश्वत तक पहुंच कर उसे पकड़ सके। उसका पांव जरा फिसल जाये तो वह गिरने के सिवा और कर ही क्या सकता है ?

२—वैराग्य

संसार से घृणा, प्रपंचात्मक जीवन से जुगुप्सा और संसार से बचकर शाश्वत में भाग जाने की इच्छा को हमारी परिभाषा में वैराग्य कहते हैं। आत्मा का मुक्ति की ओर मुड़ना ही वैराग्य है। लेकिन हमें झूठे दिखावे

और उसकी नकलों के बारे में सावधान रहना चाहिये, हमारे मन उसके बहुत ज्यादा प्रभाव में आ जाते हैं। सच्चे वैराग्य की भाषा यह नहीं है, "मैं सारे समय दुःख-दारिद्र्य की घेरा-बंदी के थपेड़े खाता रहता हूँ, चलो मैं दुनिया से भाग चलूँ और गेरुआ पहनकर चित्ता और दुःख से शांति पा लूँ।" जैसे तुम मार्का देखकर असली और जाली चीज में फर्क जान सकते हो उसी तरह एक निशान है जिससे तुम सच्चे संन्यासी को पहचान सकते हो। अपने-आपमें प्रपंचात्मक जगत् से ऊब नहीं, सच्चा वैराग्य है जगत् से ऊब के साथ-ही-साथ शाश्वत के लिये सच्ची प्यास। शाश्वत के लिये प्यास मार्का है, उसे खोजो, वही सच्चा मार्का है, छलपूर्ण प्रतिकृति नहीं। आजकल गेरुआ वस्त्र बहुत अधिक स्वार्थ, बहुत अधिक आलस्य और बहुत अधिक ढोंग और मिथ्याचार को ढंके रहता है। गेरुआ वस्त्र मार्का नहीं है, शाश्वत के लिये ललक मार्का है। बातचीत या बाहरी क्रिया-कलाप भी मार्का नहीं है क्योंकि वह एक प्रतिकृति मात्र हो सकती है। आंखों में देखो, हल्की, कम ध्यान खींचनेवाली आदतों को देखो, चेहरे पर चमक की प्रतीक्षा करो और तब तुम मार्का को पा सकोगे। यही कसौटी अपने ऊपर भी लगाओ। जब तुम्हें लगे कि तुम्हारे अंदर वैराग्य है तो अपने-आपसे पूछो, "क्या यह केवल ऊब और जुगुप्सा है, आत्मा की जरा-सी बेहोशी है? क्या मैं अपने अंदर आत्मा की जरा-सी जागृति, उसके लिये कामना पाता हूँ जो क्षणिक नहीं शाश्वत है, जो पाप से बंधा नहीं, दुःख में उतरता-चढ़ता नहीं है, जो शुद्ध और मुक्त है?" अगर कठोर आत्म-परीक्षा के बाद तुम अपने अंदर यह कामना देखो तो समझ लो कि तुम्हारी मुक्ति शुरू हो गयी है।

वैराग्य के कई प्रकार होते हैं कुछ सच्चे और कुछ झूठे। एक होता है गहरा, तीव्र और ऊर्जामय वैराग्य। जब बलवान् मनुष्य संसार की मधुरिमा चखकर देखता है कि उसमें कोई स्थायी और टिकाऊ मधुरता नहीं है, ये वे सच्चे और अमर आनन्द नहीं हैं जिनकी मांग उसकी सच्ची और अमर आत्मा करती है, तो वह उनकी ओर से मुड़कर अपनी सत्ता में किसी ऐसी चीज की ओर बढ़ता है जो अधिक पवित्र और गहरी है, जो उसकी अमर और

अक्षय आत्मा का आनन्द है। फिर एक ढोंगी या दुर्बल मनुष्य का मिथ्या और क्षणभंगुर वैराग्य है जो दुनिया की मिठाइयों के लिये ललचाया, लालायित हुआ और प्यासा रहा है लेकिन जिसे नियति या उससे अधिक मजबूत लोगों ने धकिया कर फेंक दिया है। अब वह संन्यासी के बाहरी जीवन में आलस्य-भरा, कण्टकहीन मार्ग ढूँढ़ता है जो उसे मान-प्रतिष्ठा, सुख, लोभ की तुष्टि की ओर ले जाये या फिर वह संन्यास और योग का उपयोग वैसे करेगा जैसे पियक्कड़ अपनी बोतल का, अफीमची अपनी गोली या दैनिक खुराक का करता है। जिन महान् ऋषियों ने इन बड़ी-बड़ी चीजों को जगत् के आगे प्रकट किया उन्होंने यह ऐसे तुच्छ उद्देश्यों के लिये नहीं किया था। इस तरह की दुर्बलता से सावधान। *क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते*—हे पार्थ, योद्धा और शूरवीर के पौरुष से नीचे मत गिरो, यह तुम्हें शोभा नहीं देता। सचमुच ऐसी दुर्बलता उसे शोभा नहीं देती जो ब्रह्म, शाश्वत, जगत् का स्रष्टा, पालकहार और नाशकर्ता है। दूसरी ओर दुःख और निराशा का एक सच्चा वैराग्य भी होता है। कभी-कभी अपने अज्ञान में लोगों ने अधम वस्तुओं के लिये कोशिश की है और असफल हुए हैं। अपनी दुर्बलता के कारण नहीं बल्कि इसलिये कि ये वस्तुएं उनकी प्रकृति में नहीं थीं, उनके अयोग्य, उनकी महानता और उच्च नियति के आगे हेय थीं। दुःख और निराशा अपनी सच्ची आत्मा की ओर आंखें खोलने के लिये जरूरी चीजें थीं। तब वे एकान्त, ध्यान और समाधि की खोज करते हैं, दुःख और अपूर्ण लालसा को डुबाने के लिये जाम की तरह नहीं बल्कि इसलिये कि उनकी चाह अब अयोग्य वस्तुओं के लिये नहीं, भागवत प्रेम के लिये, शाश्वत के ज्ञान के लिये है। कभी-कभी महान् आत्माएं संन्यास-मार्ग में प्रवेश करती हैं क्योंकि वे शाश्वत के साथ एकान्त में ही अपने ब्रह्मतेज को विकसित कर सकती हैं ताकि उसे दिव्य प्रयोजन के लिये उपयोग में ला सकें। एक बार उसे पाकर वे उसे दिव्य ज्ञान या दिव्य प्रेम के प्रवाह में जगत् पर उंडेलती हैं, शंकराचार्य और रामकृष्ण ऐसे ही थे। कभी-कभी जगत् के दुःख और दैन्य उन्हें आनन्द और सुख में पाकर बाहर निकाल देते हैं जैसे बुद्ध और ईसा अज्ञानियों के लिये प्रकाश खोजने और दुःखियों के

लिये अपनी ही सत्ता की गहराइयों में सहायता खोजने के लिये बाहर निकाले गये थे। सच्चे संन्यासी सबसे अधिक महान् कार्यकर्ताओं में हैं क्योंकि उनके अंदर अधिक-से-अधिक अमिश्रित और अखूट बल होता है, वे भगवान् का कार्य करने के लिये भगवान् के अंदर सबसे अधिक प्रबल लोग होते हैं।

वैराग्य का ठीक स्वभाव या तात्कालिक और उत्तेजक कारण चाहे कुछ भी क्यों न हो, अगर शाश्वत के साथ मिलन की प्यास है तो यह जान लो कि यह सच्चा वैराग्य और तुम्हारी मुक्ति के लिये सच्चा आवेग है। अगर तुम्हें शाश्वततक पहुंचना ही है तो इस स्थिति से होकर गुजरना ही होगा। क्योंकि अगर तुम प्रपंचात्मक जगत् से ऊब न जाओ तो तुम्हारा मन शाश्वत की ओर नहीं मुड़ सकता, प्रपंचात्मक जगत् का आकर्षण तुम्हारी आंखों को ऊपर नहीं नीचे, भीतर की ओर नहीं, बाहर की ओर रखता है। अतः अपने जीवन में वैराग्य के पहले प्रवाह का स्वागत करो और साथ ही यह याद रखो कि यह मार्ग का लक्ष्य नहीं उसका पहला पड़ाव है। स्वामी भास्करानन्द जीवन के प्रति बहुत तीव्र और विजयी घृणा के कारण संन्यासी बने थे, लेकिन जब उन्होंने मुक्ति पा ली तो उनका मन इतना बदल गया कि यदि उनकी पत्नी जिंदा होती तो वे उसके साथ साधारण गृहस्थ की तरह रह लेते—यह एक ऐसा विचार है जो पण्डितों और विद्वानों की मण्डली को वीभत्स लगता, परन्तु जीवनमुक्त के लिये यह मामूली बात है। जब रामकृष्ण ने प्रभु के साथ तादात्म्य पा लिया तो वे गृहस्थ की भांति दुनिया में न लौट सकते थे और न सांसारिक वस्तुओं के स्पर्श को ही सह सकते थे—क्योंकि वे परम भक्ति के अवतार थे—लेकिन वे जगत् में अभिव्यक्त शाश्वत के अंदर और विशेष रूप से मनुष्य में उतना ही आनन्द ले सकते थे जितना उस शुद्ध निष्क्रिय ब्रह्म में जिसके साथ वे समाधि में एक होते थे। कर्मयोगी को वैराग्य की स्थिति में से गुजरना तो पड़ता है परन्तु वह उसी में निवास नहीं करेगा। या ज्यादा ठीक तरह से कहा जाये तो वह उसमें आध्यात्मिक तत्त्व को बनाये रखेगा और भौतिक तत्त्व को छोड़ देगा। वैराग्य का आध्यात्मिक तत्त्व है प्रपंचात्मक विषयों और क्रियाओं के लिये स्वार्थपूर्ण

कामनाओं से मुंह मोड़ लेना, भौतिक तत्त्व है स्वयं विषयों और क्रियाओं से डरना और सकुचाना। आध्यात्मिक तत्त्व को बनाये रखना सभी योगियों के लिये जरूरी है। भौतिक तत्त्व को बनाये रखना प्रायः भौतिक शुद्धि और साधुता का लक्षण माना जाता है परन्तु मुक्ति के लिये आवश्यक नहीं है।

उन बहुत-से लोगों के उच्च प्रमाणों या अधिकार-वचनों से न घबराओ जो कहते हैं कि ब्रह्म की खोज करनेवालों के लिये संसार का त्याग जरूरी है और मुक्ति कर्म से नहीं प्राप्त हो सकती। हमारे पास इनके विरुद्ध खड़ा करने के लिये एक बहुत अधिक बड़ा प्रमाण स्वयं श्रीकृष्ण की शिक्षा में है। महाभारत के उद्योगपर्व में वे संजय से कहते हैं कि कर्म-सिद्धांत और निष्क्रियता-सिद्धांत के बीच उन्हें पहला ज्यादा पसंद है और दूसरा तो उन्हें दुर्बलों का प्रलाप मालूम होता है। इसी तरह गीता में ज्ञान और भक्ति पर जोर देते हुए वे कर्म को देश निकाला नहीं देते और न उसे किसी निचले स्थान में ढकेल देते हैं। गीता का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश कर्मयोग का गुणगान, उसकी प्रकृति और उसके सिद्धांतों का प्रेरणा-भरा प्रतिपादन है। ज्ञान निश्चय ही अनिवार्य है, वह सर्वप्रथम और सर्वोत्तम है। ज्ञान-विहीन कर्म मनुष्य का निस्तार न करेंगे बल्कि उसे दासता में अधिकाधिक डुबायेंगे। उपनिषद् कर्म की आवश्यकता के बारे में कहने से पहले यह बतलाने की सावधानी बरतता है कि तुम्हें ईश की उस उपस्थिति का अनुभव करना चाहिये जो समस्त विश्व को लपेटे हुए है, इतना ही नहीं, उसके अंदर समायी हुई प्रत्येक वस्तु को भी। जब तुम्हें यह ज्ञान प्राप्त हो जाये कि सब कुछ एक ही ब्रह्म है और तुम्हारे कर्म पुरुष के आनन्द के लिये प्रकृति द्वारा उद्घाटित होते हुए नाटकीय भ्रम हैं तब तुम बिना कामना और भ्रांति के कर्म कर सकोगे, जगत् का त्याग कर सकोगे ताकि उसे भोग सको जैसा कि उपनिषद् कहता है या जिसके लिये श्रीकृष्ण सलाह देते हैं कि अपने कर्म-फल की समस्त लालसा छोड़ दो। तुम अपने समस्त कर्म ईश को अर्पित कर दोगे, अपनी निचली मिथ्या सत्ता को नहीं जो तुम्हारे कर्मों के परिणाम में सुख, दुःख का अनुभव करती है, बल्कि उस ब्रह्म को अर्पित कर दोगे जो तुम्हारे अंदर है, जो 'लोकसंग्रहार्थम्' कर्म करता है—लोगों को एक साथ

रखने के लिये—ताकि अप्रशिक्षित भीड़ तुम्हारी अकर्मण्यता से चकराकर भटक न जाये, इसकी जगह तुम्हारे देवोपम कार्यों से जगत् को सहायता मिले, वह मजबूत हो और उसकी देखभाल हो सके। और अगर तुम कामना और फल के लिये आसक्ति के बिना कर्म करोगे तो तुम्हारे कर्म देवोपम होंगे क्योंकि भगवान् इसी तरह कर्म करते हैं। जगत् उनकी लीला है, खेल है, कोई सोद्देश्य आन्दोलन या संघर्ष नहीं जिससे उन्हें कुछ लाभ होगा या वे कुछ मुनाफा करेंगे। यह महान् साम्राज्य जिसकी तुम महिमा गाते हो और जिसे शाश्वत समझते हो, उनके लिये बालू की दीवार से बढ़कर नहीं है जिसे एक बच्चे ने अपने खेल के लिये बनाया है। उन्होंने इसे बनाया है और वे ही इसे नष्ट कर देंगे और एक दिन ऐसा लगेगा मानों यह सब कभी था ही नहीं। ये सूर्य और उसके मंडराते हुए ग्रह उनके हाथों के क्षणिक खिलौने हैं। एक समय था जब वे नहीं थे, अब वे हैं और एक समय आयेगा जब वे फिर से नहीं होंगे। फिर भी जब ईश इन चीजों पर काम करते हैं तो वे उस बच्चे की तरह काम करते हैं जो बालू से महल बनाता है, मानों वह महल स्थायी और अविनाशी होगा।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ गीता (९.९)

“फिर भी ये कर्म मुझे नहीं बांधते, हे धनञ्जय, क्योंकि मैं एकदम उदासीन की तरह रहता हूँ और अपने कर्मों से आसक्त नहीं होता।” त्याग के बाद किये गये कर्म, भगवान् को अर्पित कर्म—ये कर्म न तो मनुष्य से चिपकते हैं न उसे अदृश्य जंजीरों में बांधते हैं बल्कि उससे इस तरह झड़ते जाते हैं जैसे हंस के पंखों से पानी। वे उसे नहीं बांध सकते क्योंकि वह कार्य-कारण के जाल से मुक्त होता है। कार्य और कारण द्वैत के भाव में रहते हैं जिसकी जड़ अविद्या में है। जब योगी कामना को त्याग देता है और एकत्व का अनुभव पा लेता है तो अविद्या और उसकी सन्तति से ऊपर उठ जाता है और उसके लिये बंधन का कोई अर्थ नहीं रहता। कर्मयोग का, और सभी तरह के योगों का यही उद्देश्य होता है लेकिन उसका मार्ग आध्यात्मिक वैराग्य और कामना के त्याग द्वारा होता है, भौतिक रूप से

कामना के विरोधों से अलग होकर नहीं। मंत्र की दूसरी पंक्ति में उपनिषद् इसी बात पर जोर देता है, "इस तरह यही तेरा मार्ग है, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, इस तरह कर्म मनुष्य के साथ चिपकता नहीं।" एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। यह निर्णायक बात है जिसके विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती।

३—तीन नहीं, एक ही मार्ग—

नान्यः पन्थाः विद्यते, "इसके सिवा कोई और मार्ग नहीं है," इसका यह मतलब नहीं है कि सभी मनुष्यों के लिये कर्मयोग ही मोक्ष का एकमात्र मार्ग है, परन्तु मोक्ष के लिये कामना का त्याग आवश्यक है। ज्ञानी, भक्त या कर्मयोगी जो भी काम करे उसका उत्सर्ग शाश्वत के लिये होना चाहिये। कर्मयोगी के लिये यही एकमात्र संभव पथ है क्योंकि मनुष्य का स्वभाव यह निश्चय करता है कि वह कौन-सा मार्ग चुने। अगर कोई जन्मजात ज्ञानी किसी बड़े भक्त का शिष्य हो जाये, वह अपने गुरु की शिक्षा को चाहे जितनी विनम्रता के साथ स्वीकार करे, वह अपने ज्ञान में चाहे जितनी भक्ति का मिश्रण क्यों न कर दे फिर भी उसे ज्ञान-मार्ग ही अपनाना होगा, कोई और नहीं क्योंकि यही उसका स्वभाव, उसकी सत्ता का धर्म है। अगर उसमें ब्राह्मण की प्रधानता है तो वह ज्ञान की ओर आकर्षित होगा, अगर क्षत्रिय प्रधान हो तो कर्म की ओर, अगर शूद्र या वैश्य, बालक या स्त्री हो तो भक्ति की ओर। अगर वह जन्मजात सन्त या अवतार हो तो वह तीनों का समन्वय करेगा, फिर भी उनमें से एक बाकी की अपेक्षा प्रधान होगा, जो उसके जीवन और शिक्षा का मुख्य स्वर होगा। हमेशा एक या दूसरे की प्रधानता, उसका अमिश्रित अधिकार नहीं, मार्ग का निर्णय करती है। जैसा कर्मयोगी के साथ होता है भगवान् की ओर कर्मों का उत्सर्ग अनिवार्य रूप से भागवत प्रेम को लाता है और प्रेम ज्ञान देता है, भक्त के साथ भी यही होता है; भागवत प्रेम अपने-आप उसके समस्त कर्मों को भगवान् की ओर प्रेरित करेगा और उसे सीधा ज्ञानतक पहुंचा देगा। ज्ञानी के साथ भी यही बात है। ब्रह्म के ज्ञान का अर्थ है ब्रह्म में आनन्द और यह है भक्ति; और

यह प्रेम और ज्ञान उसे अपने अंदर ही न रहने देंगे बल्कि उसे ब्रह्म की ओर जाने के लिये प्रेरित करेंगे और यह दिव्य कर्म है। तीनों मार्ग वस्तुतः एक हैं। ज्ञानी दाहिना हाथ लेता है और भक्त बायां और कर्मयोगी बीच में चलता है; जब वह मार्ग पर है तो हर एक अपने मार्ग को सबसे ज्यादा पसंद करता है और सोचता है कि अन्य मार्ग घटिया हैं, लेकिन जब वे अपने लक्ष्यतक पहुंचते हैं तो उन्हें पता लगता है कि कोई बढ़िया या घटिया न था, वे एक ही मार्ग पर चल रहे थे जो देखने में तीन मार्ग लगते थे।

ज्ञानी और भक्त मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में कर्म से सकुचाते हैं। अप्रबुद्ध कर्म जिज्ञासु के मार्ग में एक बहुत बड़ा रोड़ा है इसलिये वे प्रबुद्ध, निष्काम कर्म को भी एक अधीनस्थ अनुशासन मान लेते हैं जिसका एकमात्र मूल्य यह है कि वह मनुष्य को भक्ति या ज्ञान के लिये तैयार करे। वे आसानी से यह स्वीकार न करेंगे कि कर्म अपने-आपमें ब्रह्मतक जाने का एक सीधा और पर्याप्त मार्ग हो सकता है। इसलिये शंकराचार्य कर्म की निन्दा करते हैं और शंकराचार्य एक ऐसे आप्त प्रमाण हैं जिनकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता। फिर भी, बड़े-से-बड़े लोग भी अपनी प्रकृति द्वारा अनुकूलित हैं, उस काल से जिसमें वे रहते हैं और वे जिस काम को करने के लिये आये हैं उससे प्रतिबद्ध होते हैं। जिस काल में शंकर रहते थे यह ठीक था कि कर्म का पलड़ा हल्का करके ज्ञान की महिमा बढ़ाई जाये। उन्हें जिस महान् जीवित शक्ति का सामना करना था वह बौद्ध धर्म का पिछला हासमान रूप न होकर विजयी कर्मकाण्ड था जो वैदिक अनुष्ठानों के नियमित रूप से पालन को ही एकमात्र पथ और स्वर्ग को उच्चतम लक्ष्य मानता था। उन्होंने यह प्रमाणित करने की सतत चिन्ता में कि ये अनुष्ठान ही मार्ग नहीं हैं, धनुष की प्रत्यंचा को दूसरी दिशा में जितना अधिक खींचा जा सकता था खींचा और उसका यह प्रभाव पड़ा कि कर्म मुक्ति-पथ हो ही नहीं सकता। अगर वे कहते कि कर्म भी मुक्ति का एक मार्ग है तो लोग उनकी बात न समझ पाते। वे यही समझते कि अपने क्रिया-कर्मों और अनुष्ठानों के मुक्ति के लिये पूरी तरह पर्याप्त होने के बारे में विश्वास के लिये एक और प्रमाण मिल गया। जब हम देखें कि उपनिषदों की व्याख्या

और उनके भाष्य में शंकर, रामानुज और माध्व में इतना अधिक मतभेद है तो हमें यह चीज याद रखनी चाहिये। यह जरूरी था कि शंकर शास्त्रों की व्याख्या शुद्ध अद्वैत की दृष्टि से करते, शाश्वत की अद्वैतात्मक परिकल्पना से ताकि अद्वैत का विचार एक सुनिश्चित और दृढ़ दार्शनिक अभिव्यक्ति पा सकता। और इसी तरह यह जरूरी था कि माधवाचार्य उनकी व्याख्या पूरी तरह द्वैत दृष्टि से करें और रामानुज इन दोनों का समाधान विशिष्टाद्वैत में पायें जो परिवर्तित अद्वैतवाद था। शाश्वत के बारे में इन सब धारणाओं का अपना सत्य है और शाश्वततक पहुंचने के लिये आत्मा के प्रयास में उनका अपना उपयोग है। लेकिन उपनिषद् केवल ब्रह्म की अपने अंदर की अन्तिम वास्तविकता से ही संबंध नहीं रखता बल्कि साथ ही ब्रह्म की अपने विश्व में अपनी वास्तविकता तथा जीवात्मा यानी व्यष्टिगत आत्मा का अपनी वास्तविकता के साथ भी संबंध रखता है। इसलिये कभी वह अद्वैतवादी, कभी द्वैतवादी और कभी विशिष्टाद्वैतवादी होता है। अब हमारे अंदर वह साहस होना चाहिये कि उन मार्गों को छोड़, जिन्हें महान् मृतात्माओं ने हमारे लिये तैयार किया था, अपने मन से सभी पूर्वकल्पित दर्शनों को निकाल दें और बस इतना ही पूछें, “उपनिषद् सचमुच क्या कहते हैं ?” इसकी परवाह न करो कि हमारे निष्कर्ष तार्किक को असंगत या परस्पर-विरोधी मालूम होते हैं या तात्त्विक तर्क करनेवाले को असंगत मालूम होते हैं। इतना पर्याप्त है कि वे भगवान् की खोज करनेवाले की अनुभूति में सच्चे हैं। शाश्वत अनन्त है और उसे तार्किक सूत्रों के तंग घेरौंदे की सीमाओं में बंद नहीं किया जा सकता।

४—कर्म द्वारा मुक्ति का निषेध

आखिर कर्मों के द्वारा मुक्ति के निषेध का अर्थ क्या होता है—जब हम उसे केवल तर्क की दृष्टि से नहीं बल्कि वास्तविक आध्यात्मिक अनुभव की दृष्टि से देखें ? कुछ लोग, जब वे कर्म की बात करते हैं तो उनका मतलब केवल वैदिक, पौराणिक या तांत्रिक क्रिया-कर्म या कर्म-काण्ड से होता है। इस प्रकार के कर्म निश्चय ही हमें मुक्ति की ओर नहीं ले जाते। वे सफलता और

बहुत खुशी दे सकते हैं, इस जगत् में शक्ति, वैभव दे सकते हैं या वे मृत्यु के बाद स्वर्ग में भोग प्रदान कर सकते हैं; लेकिन स्वर्ग तो मुक्ति नहीं है, वह आत्मा की अस्थायी आह्लादपूर्ण स्थिति है जिसकी प्रसन्नता कारण समाप्त होने के साथ-ही-साथ समाप्त हो जाती है। या ये क्रियाएं सचेतन रूप से उन गुह्य शक्तियों पर अधिकार और उनके उपयोग की ओर ले जाती हैं जो साधारण मनुष्य के अंदर छिपी रहती हैं, जिनके द्वारा तुम औरों की सहायता कर सकते हो या उन्हें हानि पहुंचा सकते हो। लेकिन गुह्य शक्तियों पर अधिकार सहायक नहीं हो सकता, वह बहुधा मुक्ति के मार्ग में बाधक ही होता है। या क्रियाएं और अनुष्ठान मन को शुद्ध करके मुक्ति के किसी मार्ग पर चलने के योग्य बना सकते हैं। हमारे जीवन के सच्चे लक्ष्य के लिये उनकी बस यही सहायता है। वे ब्रह्मविद्या के विद्यालय में प्रारंभिक या शिशु-कक्षा से बढ़कर कुछ नहीं हैं।

फिर यह स्पष्ट है कि कामना द्वारा किये गये कर्म, ज्ञान के बिना किये गये और भगवान् को समर्पित न किये गये कर्म मुक्ति की ओर नहीं सतत बद्धता की ओर ले जाते हैं। कामना द्वारा प्रेरित कर्म केवल कामना की पूर्ति की ओर ले जाते हैं और उस पूर्ति में वे समाप्त भी नहीं होते। हम जो भी काम करते हैं वह स्वयं हमारे ऊपर प्रभाव डालने के सिवा औरों पर भी तथा जगत् की सामान्य गतिविधि पर भी अनन्त प्रभाव डालता है और वे फिर कारण बनकर नये प्रभाव पैदा करते हैं। इस तरह लहरियां ज्यादा विशाल होती जाती हैं यहांतक कि भावी की दूरी में जाकर हमारी आंखों से ओझल हो जाती हैं। अपने सभी कर्मों के प्रभाव के लिये हमारी जिम्मेदारी है और हम जो भी नयी चीज करते हैं वह हमें नये ऋणों में डालती जाती है, सांसारिक जीवन के उत्तरदायित्वों से छुटकारा पाने से पहले हमें इन सब ऋणों को चुकाना पड़ेगा। हम जगत् में अस्तित्व को एक ऋणी के कारागार के रूप में मान सकते हैं जिसमें आत्मा को उसके लाखों ऋणकर्ताओं ने बंद कर रखा है जिनमें से एक भी कर्ज की एक कौड़ी भी माफ करने को तैयार न होगा। लेकिन हम इन कर्जों से कभी छुटकारा न पा सकेंगे क्योंकि हम अपने पुराने कर्ज चुकाने के लिये जो भी पाते हैं वह नये कर्ज लेकर ही

मिलता है जो हमें नये और समान रूप से कठोर दावेदारों की दया पर आश्रित कर देता है। प्रकृति जो महान् न्यायाधीश और जेलर है, बराबर हमारे विरोध में नयी डिगरियां देती जाती है, क्योंकि उसका विधान कठोर है जिसमें किसी छूट या सुविधा के लिये जगह नहीं है। हम उससे छुटकारा तभी पा सकते हैं जब उसके क्षेत्र से निकल कर भगवान् के शरण-क्षेत्र में जा पहुँचें जहाँ जाकर प्रकृति का दास, उसमें प्रवेश पाते ही, मुक्त और प्रकृति का स्वामी बन जाता है।

लेकिन कर्मयोगी के कर्म कामना के बिना और ज्ञान के साथ किये गये काम होते हैं। निश्चय ही ये हमारी मुक्ति को नहीं रोक सकते और न ही नये ऋणों और नये बंधनों की ओर ले जाते हैं क्योंकि बंधन कामना और अज्ञान का परिणाम है और कामना और अज्ञान के साथ ही उड़ जाता है। निश्चय ही कामना और अज्ञान प्रकृति के क्षेत्र की सीमाएं हैं और एक बार हम उन्हें पीछे छोड़ दें तो हम उसके राज्य से बाहर निकल आते हैं, हम उसके पीछा करने से छुटकारा पा जाते हैं, भगवान् की शरण में पहुँच पाते हैं जहाँ हम उसके विधान से मुक्त स्वच्छन्द पुरुष होते हैं। निष्काम कर्मों के निर्दोष होने से इंकार करना तर्कबुद्धि का खंडन करना, श्रुति से और तथ्यों से इंकार करना होगा क्योंकि जनक तथा अन्यो ने कर्म किये थे, श्रीकृष्ण ने कर्म किये थे लेकिन कोई नहीं कह सकता कि वे जीवन-मुक्त या वे अवतार अपने कर्मों से बद्ध थे; क्योंकि उनके कर्म कामना के बिना और ज्ञान के साथ किये गये थे। तो निष्काम कर्म मुक्ति को नहीं रोक सकते और नये बंधनों की ओर नहीं ले जा सकते।

यह युक्ति दी जा सकती है कि अगर कर्म मुक्ति को रोकते नहीं तो उसकी ओर जाने में सहायता भी नहीं करते। भक्त या ज्ञानी के कर्म उसे बांधते नहीं, क्योंकि उसने तो शाश्वत को प्राप्त कर लिया है और उस प्राप्ति के बल पर वह कामना और अज्ञान से मुक्त हो जाता है; लेकिन इस प्राप्ति से पहले किये गये कर्म बंधन के सिवा कुछ नहीं हो सकते। केवल ईश-ज्ञान की खोज और भगवान् की पूजा अर्चना—जिसे उचित रूप से कर्म का नाम नहीं दिया जा सकता—उत्तरदायित्व से मुक्त हैं। लेकिन यह तर्क भी

दिव्य शिक्षा, अनुभूति या तर्क बुद्धि के साथ संगत नहीं है क्योंकि भगवान् की शिक्षा हमसे स्पष्ट रूप में कहती है कि जगत् के त्याग के बाद किये गये, भगवान् को अर्पित कर्म मुक्ति की ओर ले जाते हैं। हम जानते हैं कि एक निष्काम और ईश को अर्पित कर्म हमें उसी प्रकार के अन्य नये-नये कर्मों के लिये शक्ति देता है और ऐसे कर्मों का सतत दोहरना निश्चित रूप से निष्काम होने और भगवान् के प्रति आत्मोसर्ग की आदत डाल देगा जो आगे चलकर हमारी प्रकृति और हमारा वातावरण बन जायेंगे। हम पहले ही देख आये हैं कि निष्काम होने से हम प्रकृति के अधिकार-क्षेत्र से बाहर निकल जाते हैं और जब हम प्रकृति के अधिकार-क्षेत्र के बाहर हों तो फिर भला शाश्वत की उपस्थिति को छोड़ और हो कहां सकते हैं? और युक्तिसंगत ढंग से यह भी नहीं कहा जा सकता कि ईश के प्रति आत्मोसर्ग हमें ईश की ओर नहीं ले जाता, नहीं तो वह और कहां ले जायेगा? अतः यह स्पष्ट है कि निष्काम कर्म न केवल हमें मुक्ति से नहीं रोकता बल्कि मुक्ति के मार्ग में बहुत बड़ी सहायता है।

यह भी तर्क किया जा सकता है कि निष्काम कर्म केवल इसलिये सहायता करता है क्योंकि वह भक्ति और ज्ञान की ओर ले जाता है अतः वहां पहुंचकर उसका काम पूरा हो जाता है। वह आत्मा को अमुक स्थिति तक पहुंचा देता है पर सीधा भगवान् तक नहीं पहुंचाता। केवल भक्ति और ज्ञान ही हमें भगवान् तक पहुंचा सकते हैं। जैसे ही इन दोनों में से कोई उसकी बांह पकड़ ले, कर्म को उसका साथ छोड़ देना चाहिये, ठीक उसी तरह जैसे कर्मकाण्ड को उसे छोड़ देना चाहिये, अतः कर्म का स्थान तत्त्वतः क्रियाओं और अनुष्ठानों से ऊंचा नहीं है। अगर यह ठीक तर्क हो तो कर्मयोगी उतने ही बल के साथ कह सकता है कि भक्ति ज्ञान की ओर और अपने कर्मों को भगवान् के प्रति अर्पण करने की ओर ले जाती है; अतः ज्ञान और निष्काम कर्म ही मनुष्य को शाश्वत की ओर ले जाते हैं, भक्ति तो केवल एक प्रारंभिक साधन है या ज्ञान शाश्वत की आराधना की ओर ले जाता है और हम जो कुछ करें उसे भगवान् को अर्पण करने की ओर ले जाता है; अतः केवल भक्ति और निष्काम कर्म ही आत्मा को सीधा

भगवान् के पास ले जाते हैं और ज्ञान केवल एक प्रारंभिक साधन है। और अगर यह कहा जाये कि कर्म को अमुक स्थिति पर आकर रुक जाना चाहिये जब कि भक्ति और ज्ञान नहीं रुकते हैं तो यह भी अनुभव के साथ असंगत है। जनक आदि शाश्वत को प्राप्त कर चुकने पर भी कर्म करते रहे, वे जबतक शरीर में रहे उन्होंने कर्म करना नहीं छोड़ा। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि शाश्वत को पाने के बाद कर्म को बंद करना जरूरी नहीं है फिर भी उनका जारी रहना भी जरूरी नहीं है। कुछ कर्म-विशेष ऐसे हैं जिनका जारी रहना जरूरी नहीं, क्रिया-कर्म और अनुष्ठानों को जारी रखना जरूरी नहीं है, गृहस्थ जीवन को जारी रखना जरूरी नहीं है। लेकिन जबतक सूक्ष्म या स्थूल शरीर बना रहे तबतक कुछ कर्मों का जारी रहना जरूरी है; क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर, शारीरिक और आत्मिक दोनों खोल प्रकृति का भाग हैं और जो कुछ प्रकृति है उसे कर्म करना चाहिये। गीता ने यह स्पष्ट कहा है :

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

“सचमुच कोई मनुष्य क्षणभर के लिये भी कुछ काम किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि सभी प्रकृति से जन्मे गुणों के द्वारा किये गये कार्य करने के लिये विवश हैं।” और फिर ‘सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।’ “ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के सदृश्य क्रिया-कलाप करता है क्योंकि सृष्ट वस्तुएं अपनी प्रकृति का अनुसरण करती हैं, जबर्दस्ती करने से क्या हो सकता है ?” मनुष्य अपनी प्रकृति का अनुसरण करता है और कर्म किये बिना नहीं रह सकता; लेकिन वह यह चुनाव कर सकता है कि अपना कर्म किसे अर्पित करेगा, अपनी निम्नतर सत्ता को या उच्चतर को, कामना को या भगवान् को। जो मनुष्य जगत् को पीछे छोड़कर किसी पर्वत-शिखर या आश्रम में जा बैठता है, कर्म से छुटकारा नहीं पाता। और कुछ न सही फिर भी उसे अपने शरीर की देखभाल तो करनी ही होती है। उसे खाना-पीना, चलना, हाथ-पैर हिलाना, आसन जमाकर बैठना और ध्यान करना तो होता है। ये सब कर्म हैं। और केवल उसका शरीर ही काम नहीं करता; उसका

मन शरीर से भी ज्यादा कर्मठ होता है। अगर वह कामना से मुक्त नहीं है तो उसका कर्म उसे बांधे रहेगा और स्वयं उसके साथ तथा औरों के साथ सम्बद्ध फल लायेगा। अगर वह कामना से मुक्त भी हो जाये तो भी उसका मन और शरीर तबतक कर्म से मुक्त नहीं होते जबतक वह पूरी तरह उनसे अंतिम रूप से पीछा न छोड़ा ले और यह तबतक न होगा जबतक कि प्रारब्ध कर्म अपने-आपको चरितार्थ न कर ले और उसके नाम के आगे लिखे ऋण चुकता न हो जायें। बड़े-से-बड़ा योगी केवल अपनी शारीरिक उपस्थिति से ही चारों दिशाओं में आध्यात्मिक शक्ति की एक धारा प्रवाहित करता रहता है। यह सच है कि यह कर्म उसे बांधता नहीं है फिर भी है तो कर्म ही और ऐसा कर्म जिसका औरों पर बहुत अधिक प्रभाव होता है। वह 'सर्वभूतहितरतः', अपनी प्रकृति से ही सभी प्राणियों का भला करने में लगा रहता है चाहे वह एक उंगली भी न उठाता हो, एक कदम भी न चलता हो। वह भी अपने सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बारे में अवश है, उसे प्रकृति के गुणों को कार्य करने देना चाहिये। वह उस कर्म का नियंत्रण कर सकता है, क्योंकि अब वह प्रकृति का दास नहीं है, लेकिन वह शाश्वत के साथ योग द्वारा शरीर और मन को त्यागे बिना उसे बंद नहीं कर सकता। अतः कर्म भी ज्ञान या भक्ति की तरह चलता चला जाता है।

शंकराचार्य कहते हैं कि ज्ञान प्राप्त करके हम अनिवार्य रूप से कर्म करना बंद कर देते हैं क्योंकि ज्ञान हमें शाश्वत के साथ एक कर देता है जो अकर्ता है। लेकिन जनक शाश्वत को जानते थे और फिर भी कर्म करते थे; श्रीकृष्ण अपने-आप शाश्वत थे फिर भी कर्म करते थे। क्योंकि ब्रह्म और शाश्वत एक ही साथ कर्ता और अकर्ता हैं; वह कर्म करता भी है और नहीं भी। सच्चिदानन्द के रूप में वह कर्मों के ऊपर है, लेकिन वह ज्ञान और भक्ति के भी ऊपर है। जब जीवात्मन् सच्चिदानन्द बन जाता है तो भक्ति, आनन्द या निरपेक्ष आनन्द में लीन हो जाता है, ज्ञान चित् या निरपेक्ष चेतना में और कर्म सत् में या निरपेक्ष अस्तित्व में लीन हो जाता है। लेकिन ईश या शक्ति के रूप में वह कर्म करता है, जिनसे वह बंधा नहीं रहता। जीवात्मन् जब ईश या शक्ति के साथ एक हो जाता है तो बंधे बिना कर्म करता चला जाता है।

अतः कर्म शरीर के साथ ही समाप्त नहीं हो जाते और न वे हमारे शरीर-त्याग के बाद बंद होते हैं। वे बंद होते हैं अकर्ता सच्चिदानन्द के साथ एक होकर या अज्ञेय ब्रह्म में लीन होकर जहां ज्ञान और भक्ति भी अथाह सत्ता में लील लिये जाते हैं। अज्ञेय परब्रह्म के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्रियाहीन है; वह न तो कर्ता है न अकर्ता। वह है नेति, नेति, वाणी और मन की परिभाषाओं में अव्याख्येय और अनिर्वचनीय। अतः हमें यह भय न करना चाहिये कि निष्काम कर्म हमें सीधा शाश्वत तक न ले जायेगा। हमें यह न सोचना चाहिये कि हमें भगवान् के लिये प्रेम विकसित करने या भगवान् का ज्ञान पाने के लिये कर्मों का त्याग कर देना चाहिये।

५—मुक्ति और जीवन-मुक्त

कर्मयोगी का आदर्श है जीवनमुक्त, एक ऐसी आत्मा जिसने मुक्ति पा तो ली है परन्तु तुरन्त प्रपंचात्मक जगत् से बाहर हो जाने की जगह उसी में बनी रहती है परन्तु उसके बंधन से मुक्त होती है। मुक्ति तीन प्रकार की होती है और ये तीनों सापेक्ष और आंशिक हैं : सालोक्य या भगवान् के साथ सतत सहचारिता, सादृश्य या भगवान् के साथ अपनी प्रकृति और क्रिया में सतत एकरूपता, और सायुज्य या व्यष्टिगत आत्मा का शाश्वत के साथ सतत ऐक्य। कुछ संप्रदायों की मान्यता है कि समस्त मुक्ति का एक ही अर्थ है, शाश्वत में लय, अन्य शब्दों में, जगत् से आत्मा का पूर्ण निष्कासन और अप्रतिबद्ध, अज्ञेय परब्रह्म की परम सत्ता में प्रवेश। ऐसा लय शरीर में सम्भव नहीं है—आदेहनिपातात्—वह देहनिपात के बाद ही शुरू हो सकता है, ठीक उस समय जब आत्मा अपने समस्त शरीरों को छोड़कर फिर से परम अस्तित्व में प्रवेश करती है। वस्तुतः मृत्यु का यांत्रिक परिवर्तन ही ये परिणाम नहीं लाता, बल्कि आत्मा की इच्छा लाती है कि वह अपने सभी शरीरों को फेंक दे और उनमें कभी न लौटे, चेतना की उस स्थिति से शाश्वत में पहुंच जाये जहां वह अपने-आपको एक इच्छा या शक्ति के रूप में देखे।

परन्तु यह एक आत्यन्तिक वृत्ति है। शाश्वत के साथ संपूर्ण आत्म-तादात्म्यकरण, जैसा हम जीवनमुक्त में देखते हैं, वही पूर्ण मुक्ति है क्योंकि जीवनमुक्त अपनी इच्छा से समाधि में सच्चिदानन्द की सत्ता में जा सकता है जो अकर्ता है और प्रपंच से मुख मोड़े हुए है, और जब चाहे प्रपंच के कोलाहल और गतियों से अछूता रहते हुए उनका प्रभु बनकर उनकी ओर मुड़ सकता और उनसे व्यवहार कर सकता है। जीवनमुक्त अपनी इच्छा से अज्ञेय के अंदर लय प्राप्त कर सकता है परन्तु वह ऐसी इच्छा नहीं करता।

जीवनमुक्त के यहां से प्रयाण न करने की इच्छा हमें मुक्ति के सारतत्त्व की ओर ले जाती है। लोग अप्रपंच के अंदर पूर्ण लय के लिये क्यों लालायित होते हैं? वे कर्म से क्यों भागते हैं, उन्हें यह डर क्यों लगता है कि वह उनकी मुक्ति में बाधक होगा? क्योंकि उन्हें लगता है कि प्रपंचात्मक जीवन और कर्म बंधन हैं और वे बद्ध न रह कर मुक्त होना चाहते हैं। मन की यह अवस्था तभीतक रह सकती है जबतक मनुष्य मुमुक्षु यानी ऐसी आत्मा है जो मुक्ति की इच्छुक है। लेकिन जब वह सचमुच मुक्त हो तो उसमें माया और उसके कर्मों का भय नहीं रह सकता। मुक्ति का अर्थ होता है सचमुच छुटकारा। लेकिन किस बंधन से छुटकारा, किस अत्याचार से मोक्ष? माया के बंधन से, अविद्या के अत्याचार से छुटकारा जो हमें यह मानने के लिये बाधित करता है कि हम सान्त, मर्त्य और बद्ध हैं जब कि सचमुच हम सान्त नहीं अनन्त हैं, मर्त्य नहीं अमर और अविकार हैं, बद्ध नहीं हैं, सदा मुक्त हैं। जिस क्षण तुम यह चरितार्थ कर लो कि अविद्या एक भ्रम है और शाश्वत के सिवा कुछ है ही नहीं और पहले भी शाश्वत के सिवा कुछ न था और आगे भी शाश्वत के सिवा कुछ न होगा, जिस क्षण तुम इस विचार को केवल बौद्धिक रूप से नहीं बल्कि इस तथ्य के अभ्यासगत अनुभव को पा लोगे, उस क्षण से तुम यह जान जाओगे कि तुम बद्ध नहीं हो, कभी बद्ध नहीं थे और कभी बद्ध न होगे। यथार्थतः अविद्या यही है कि जीवात्मन् सोचता है कि शाश्वत के सिवा कुछ और भी है जो उसे बंधन में डाल सकता है और वह स्वयं भी शाश्वत से भिन्न है

और वह बद्ध हो सकता है। जब जीवात्मन् अविद्या के इन भ्रामक संस्कारों को झाड़ फेंकता है तो वह अनुभव करता है कि ब्रह्म, शाश्वत के सिवा कुछ है ही नहीं, जो स्वभावतः नित्यमुक्त है। इसलिये उसे कर्म का भय नहीं हो सकता, वह कर्म से सकुचा नहीं सकता कि वह कहीं उसे बांध न ले, क्योंकि वह जानता है कि बंधन का भाव अपने-आप में भ्रम है। वह न केवल इस जगत् में कर्म करने के लिये तैयार होगा और अपनी सौ वर्ष की अवधि पूरी करने के लिये जियेगा बल्कि बार-बार जन्म लेने के लिये तैयार होगा, जैसे स्वयं श्रीकृष्ण ने बार-बार जन्म लेने का वचन दिया है या अन्य अवतारों ने फिर से जन्म लेने का वचन दिया है। क्योंकि वह चाहे जितनी बार प्रपंचात्मक जीवन में प्रवेश करे, उसे माया और उसके बंधनों का भय नहीं रहता। एक बार मुक्त, हमेशा के लिये मुक्त।

अगर वह फिर से पैदा न भी होना चाहे तो भी वह इस बात का ध्यान रखेगा कि जबतक उसके 'प्रारब्ध-कर्म' खाली न हो जायें तबतक वह इस प्रपंचात्मक जगत् को नहीं छोड़ेगा। प्रकृति के बही-खाते में उसके नाम के आगे कुछ उधार लिखे हुए हैं और उसे पहले उन्हें चुकाना होगा। हां, यह जरूर है कि जीवनमुक्त वैधानिक तौरपर अपने कर्जों से बंधा नहीं होता, क्योंकि उसने प्रकृति के नाम जितनी भी हुंडियां लिखी थीं वे मुक्ति की आग में जल चुकी हैं। अब वह स्वतंत्र और प्रकृति का स्वामी है, उसका दास नहीं। परन्तु इस जीवात्मन् के साथ जुड़ी प्रकृति ने बंधन के भ्रम की अवस्था में कुछ ऐसे कारण उत्पन्न किये थे जिन्हें अपने कार्य पूरे कर लेने देना चाहिये; नहीं तो कार्य-कारण-शृंखला टूट जाती है और प्रकृति की अर्थ-व्यवस्था गड़बड़ हो जाती है, 'उत्सीदेयुरिमे लोकाः'। अतः, जगत् के विधान को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जीवन-मुक्त बंदी की भांति कर्मों के बीच पैरोल पर रहता है जो प्रकृति की बेड़ियों से बंधा तो नहीं होता परन्तु अपनी जेल की अवधि पूरी होने पर अपनी इच्छा से बंदी की तरह काम करता है।

कर्मयोगी का आदर्श है जीवनमुक्त और भले वह इस जन्म में या अगले जन्म में इस आदर्शतक न पहुंच सके फिर भी वह हमेशा अपने-आपको उसके अनुसार ढालने की कोशिश करेगा। अतः इस जगत् में

अपने कर्म किये जाओ और सौ वर्ष रहने की इच्छा करो। तुम्हें अपने जीवन की नियत अवधि जीने की इच्छा रखनी चाहिये, लम्बे जीवन के लिये नहीं, बल्कि इसलिये कि शरीर के अंदर यथार्थ 'तुम' तो ब्रह्म है जो अपनी निजी शक्ति के बल पर अपने लिये, अपने साथ सृजन, परिरक्षण और संहार की नाटकीय लीला कर रहा है। वह ईश, स्रष्टा, परिरक्षक और संहारकर्ता है; और तुम भी अपनी प्रकृति के क्षेत्र में स्वामी, स्रष्टा, परिरक्षक और संहारकर्ता हो। तुम वह हो; केवल अपने मनोरंजन के लिये तुमने यह कल्पना कर ली है कि तुम लीला के लिये शरीर-विशेष में सीमित हो, ठीक उसी तरह जैसे एक अभिनेता यह कल्पना करता है कि वह दुष्यन्त, राम या रावण है। अभिनेता अपने-आपको लीला में खो बैठा है; वह भूल गया है कि वह सचमुच दुष्यन्त, राम या रावण नहीं है बल्कि देवदत्त है जिसने सैंकड़ों पात्रों का अभिनय किया है और अभी और करेगा। जब वह अपने भ्रम को झाड़ देता है और याद करता है कि वह देवदत्त है तो वह मंच छोड़कर चल नहीं पड़ता और अभिनय करने से इंकार करके नाटक को छिन्न-भिन्न नहीं कर देता बल्कि जब उसके मंच छोड़ने का ठीक समय आये तबतक अभिनय करता जाता है। इस प्रपंचात्मक जगत् का उद्देश्य है सृजन और जबतक हम शरीर में हैं, हमारा काम है सृजन। जबतक हम अपनी सच्ची आत्मा को भूले रहते हैं, तबतक हम भृत्यों की तरह प्रकृति के बाधित करने पर सृजन करते हैं, और हम उसके दास होते हैं और उसकी क्रियाओं से बंधे रहते हैं और मिथ्या रूप में कल्पना कर लेते हैं कि ये हमारे कर्म हैं। लेकिन जब हम अपनी सच्ची आत्मा को जान लेते और उसका अनुभव करते हैं तब हम प्रकृति के स्वामी होते हैं और उसके सृजनों से बंधे नहीं रहते। हमारी आत्मा साक्षी बन जाती है, हमारी प्रकृति के कर्मों की मूक द्रष्टा बन जाती है। इन कर्मों को वह उस रूप में ढालती है जो उसे सबसे ज्यादा सुखद लगे। तो हम एक ही साथ द्रष्टा और अभिनेता हैं; फिर भी, चूंकि हम जानते हैं कि सारी चीज प्रतीयमान कर्म का एक भ्रम है, चूंकि हम जानते हैं कि राम सचमुच रावण को मार नहीं रहा और न रावण ही मारा जा रहा है, क्योंकि रावण मृत्यु के बाद उतना ही जीवित रहता है जितना मानी

गयी मृत्यु से पहले था अतः हम न तो द्रष्टा हैं न अभिनेता, हम हैं केवल आत्मा और हम जो कुछ देखते हैं वह केवल आत्मा के अन्तर्दर्शन होते हैं। इसलिये कर्मयोगी जबतक इस जगत् में है वह न तो कर्मों को छोड़ना चाहेगा न उसकी कोशिश करेगा, वह केवल फल, कर्मफल की कामना को छोड़ना चाहेगा; न ही वह अपने नियत अन्त से पहले इस जगत् से अपना जीवन छोड़ने का प्रयास करेगा न इच्छा। जो आदमी उग्रता से अपने जीवन-तन्तु के बुने जाने से पहले ही उसे तोड़ने की कोशिश करता है वह ऐसा परिणाम पायेगा जो उसके वांछित परिणाम से बहुत ही भिन्न होगा। कर्ममार्गी का लक्ष्य है जीवनमुक्त होना, वह अपने अंदर आत्महत्या के भाव को नहीं पोसेगा।

६—आत्महत्या और परलोक

अमरीका में आध्यात्मवाद के शुरू के दिनों में बहुत-से लोग आध्यात्मवादी या प्रेतात्मावादी लोगों द्वारा प्रकाशित परलोक के चमक-दमकवाले वर्णनों से इतने प्रभावित हो जाते थे कि वे वहां पहुंचने के लिये आत्महत्या कर बैठते थे। ऐसा लगता है कि पुराने जमाने में जब शाश्वत की खोज मानवजाति के मन में प्रधान थी और क्षणभंगुर जगत् के लिये घृणा एक मामूली बात थी, तो ऐसे बहुत-से लोग होते थे जो अपने सौ वर्ष पूरे करने की जगह प्रपंच के जगत् से हठ करके बाहर निकल जाना ज्यादा पसंद करते थे। ऐसे लोगों को उपनिषद् एक गंभीर चेतावनी देता है, “सचमुच वे लोक भगवान् से वंचित, अंध-विषाद में घिरे रहते हैं। ऐसे लोग जो चले गये हैं, जो आत्मा की हत्या करते हैं वे ऐसे लोकों में जाते हैं।” यहां उपनिषद् के शब्दों का अनुवाद करते हुए हमें विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये क्योंकि शंकर ने इस मंत्र का बिल्कुल अप्रत्याशित और अनोखा अर्थ दिया है। वे ‘आत्महन्’ को उसके स्वाभाविक और सामान्य अर्थ आत्महत्या में नहीं लेते बल्कि उनके अंदर निवास करनेवाली शाश्वत आत्मा का हनन करनेवाले के अर्थ में लेते हैं। चूंकि यह चौंकानेवाला असामान्य और परस्पर-विरोधी भाव है, क्योंकि आत्मा न तो

मारती है न मरती है अतः आगे चलकर वे इसका रूपकात्मक भाव देते हैं। आत्मा को मारने का अर्थ है आत्मा को अज्ञान के भ्रम में डालना जिससे जन्म और पुनर्जन्म आते हैं। आत्मा की एक प्रकार से हत्या हो जाती है क्योंकि उसे माया के अंधकार में गायब हो जाना पड़ता है। और 'लोकाः' का अर्थ हमेशा जगत् से होता है जैसे गोलोक, ब्रह्मलोक, द्युलोक, लेकिन शंकर जबरदस्ती उसका अर्थ करते हैं जन्म, जैसे मनुष्य की तरह जन्म, पशु की तरह या देव की तरह जन्म। इसके बाद सामान्य और व्यावहारिक अर्थ से एक और गंभीर विचलन है, *असूर्याः* या *आसुराः* का साधारण अर्थ होगा दैवी की विरोध में आसुरी या दैत्यों जैसा। शंकर *आसुराः* का अर्थ करते हैं राजसिक जिसका उपयोग मनुष्य, पशु यहांतक कि देवों के भी शरीर में जन्म के लिये हो सकता है और वे इसे दैव का विरोधी मानते हैं जो शुद्ध सात्त्विक है और केवल परब्रह्म के लिये उपयोग में आ सकता है। इस भांति वे इस मंत्र का अर्थ कर देते हैं, "सचमुच राजसिक हैं वे जो जन्म और अंधे अंधकार में लिपटे हुए हैं जिसमें वे प्रयाण के बाद जाते हैं, वे जो आत्मा के हन्ता हैं।" वे सब जो अपने-आपको अज्ञान के जुए तले रखते हैं वे अपनी आत्मा की पकड़ छोड़ बैठते हैं और परब्रह्म के शुद्ध सत् की ओर लौटने की जगह मनुष्य, पशु या देव के रूप में जन्म लेते हैं।

इस व्याख्या पर बहुत-सी सांघातिक आपत्तियां की जा सकती हैं 'आत्महनः' में शब्द के सामान्य और सीधे-सादे अर्थ की जगह जबरदस्ती अद्वितीय अर्थ दिया गया है। लोकः शब्द का अर्थ एक विशेष प्रकार का जन्म नहीं हो सकता, उसका अर्थ होगा या तो जगत् या जगत्-निवासी; और इन्हीं अर्थों में उसका अर्थ श्रुति में तथा अन्यत्र किया गया है। हम कहते हैं स्वर्गलोक, द्युलोक, मर्त्य-लोक, इहलोक, परलोक; हम कीटलोक, पशुलोक, पक्षिलोक नहीं कहते। हम मनुष्यलोक अवश्य कहते हैं पर उसका अर्थ होता है मनुष्यों का जगत्, मनुष्य-जन्म नहीं। '*असूर्याः*' शब्द का अर्थ राजसिक हो सकता है लेकिन उस अर्थ में नहीं जो शंकर ने किया है, क्योंकि '*असूर्याः लोकाः*' का अर्थ परब्रह्म के दिव्य जन्म के विपरीत, जो हमेशा जन्म और अनुकूलन के परे रहता है, पशुओं, मनुष्यों या देवों का

जन्म नहीं हो सकता। और फिर दैवी और आसुरी हमेशा एक-दूसरे से उल्टी परिभाषाएं हैं, ठीक उसी तरह जैसे अंग्रेजी में टाइटन और ओलम्पियन परिभाषाएं हैं। उदाहरण के लिये गीता में कहा है :

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृति मोहिनीं श्रिताः ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।

भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥

“उनकी सभी आशाएं, उनके कर्म और उनका ज्ञान व्यर्थ है। वे राक्षसी और आसुरी प्रकृति में रहते हैं जो इच्छा और बुद्धि को भ्रम में डालती है, हे पार्थ, जो महात्मा दैवी प्रकृति में रहते हैं वे मुझे अमर के रूप में जानते हैं जिसमें से सभी सत्ताएं शुरू होती हैं और ऐसा जानते हुए वे मेरी ओर अनन्य मन और संपूर्ण प्रेम के साथ मुड़ते हैं।”

इस प्रसंग में आसुरी और राक्षसी प्रकृतियां राजसिक हैं। राजसिक असुरों की, तामसिक राक्षसों की और सात्त्विक देवों की प्रकृति है। जब कभी संस्कृत साहित्य में ये परिभाषाएं एक-दूसरे के विरोध में आती हैं तो यही भाव होता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि ‘ये के’ का प्रयोग अगर केवल उन गिने-चुने लोगों को छोड़कर, जिन्होंने मुक्ति पा ली है, बाकी सब सत्ताओं के लिये हो तो वह (ये के) अपना जोर खो बैठता है। शब्दार्थों पर जोर डालने के अतिरिक्त और भी खलन हैं। शंकर ने जिस तरह व्याख्या की है उसके अनुसार यह मंत्र पहले जो कहा गया है उससे युक्तिसंगत रूप में आगे नहीं आता और उपनिषद् में असंगति-दोष आ जाता है, जब कि अगर हम सीधे-सीधे अर्थ लें तो मंत्र अपनी रचना और विचार के सुव्यवस्थित विकास में पूरी तरह युक्तिसंगत है। दूसरी ओर, उपनिषद् के वचनों का सीधा अनुवाद और सामान्य भाव एक सरल और स्पष्ट अर्थ देता है जो अपने-आपमें बहुत उचित है और जो कुछ पहले कहा जा चुका है उसका स्वाभाविक निष्कर्ष है। शंकर का भाष्य इतने सारे और काफी बड़े दोषों से भरा है कि शंकर की प्रामाणिकता भी हमें उसे स्वीकार करने के लिये बाधित नहीं कर सकती। अतः हम मंत्र को उसके सीधे सरल

अर्थों में लेंगे : यह उन लोगों को चेतावनी है जो कल्पना करते हैं कि धरती पर स्वेच्छा से अपने जीवन के दिन कम करने से वे प्रपंचात्मक जीवन के बंधनों से बच सकते हैं।

आसुरी या देव-विहीन जगत्—जिनमें आत्मघात करनेवाला अभिशप्त होता है—देवों के जगत् से, प्रकाश और आनंद के जगत् से—जो पुण्यात्माओं का पुरस्कार होता है—एकदम दूसरे छोर पर घने अंधकार और दुःख-दर्द के जगत् होते हैं। धरती के नीचे पाताल, पाताल के नीचे नरक—ये आसुरी जगत् हैं, जगती के पर्वत-शिखरों पर सूर्यालोकमय स्वर्ग—ये देव-लोक हैं। वस्तुतः यह सब पुराण कथा और रूपक है, लेकिन आसुरी जगत् यथार्थतः हैं। वे हमारी अपनी सत्ता की गहराइयों में निराशा, दुःख और कष्ट के जगत् हैं। जगत् कोई पहाड़ों, पेड़ों और पत्थरों का स्थान नहीं है, वह जीवात्मा की एक अवस्था है, सत्ता का शेष भाग परिस्थिति और स्वप्न के ब्योरे हैं। श्रुति अगले लोक में आत्मा के लोक की बात करती है—अमुष्मिन् लोके लोकः—जहां शब्द का प्रयोग आत्मा की स्थिति या अवस्था के तात्त्विक अर्थ में किया गया है और फिर जगत् के रूपकात्मक अर्थ में जो उसकी स्थिति के अनुरूप हो। भ्रम के प्रभाव में आत्मा जिन आभासी परिवेशों, जिन इंद्रियग्राह्य बिम्बों और आभासों के कुल-योग में अपनी मानसिक स्थिति को मूर्तरूप देती है, उसीसे वह जगत् बनाता है जिसमें वह निवास करती है। यह जरूरी नहीं है कि मर्त्यलोक यह पृथ्वी ही हो जिसपर हम निवास करते हैं, क्योंकि मरणशील सत्ताओं के अन्य निवास-स्थान भी हो सकते हैं, मर्त्यलोक है स्थूल शरीर में नश्वरता की स्थिति; स्वर्ग-लोक है सूक्ष्म शरीर में आनंद की स्थिति; नरक है सूक्ष्म शरीर में दुःख-दैन्य की अवस्था; ब्रह्मलोक है कारण शरीर में भगवान् के साथ रहने की अवस्था। जैसे जीवात्मा स्वप्न देखनेवाले की तरह पृथ्वी और उसमें समायी सब चीजों को नश्वरता की अवस्था में देखती है और यह मानती है कि वह पहाड़ियों, वृक्षों, नदियों और मैदानों के एक क्षेत्र विशेष में है, उसी तरह जब वह सूक्ष्म शरीर में पूर्ण तमस् की अवस्था में हो तो यह मानती है कि वह ऐसे स्थान पर है जो घने-अंधकार से घिरा हुआ, अनिर्वचनीय दुःख-

दैन्य का क्षेत्र है। ऐसा माना जाता है कि अंधकार का यह जगत् पृथ्वी के नीचे उस दिशा में है जो सूर्य से विमुख है क्योंकि पृथ्वी हमारी मर्त्य अवस्था है और यह जगत् हमारी मर्त्य स्थिति से नीचे की अवस्था है। यह घने अंधकार का जगत् है क्योंकि जीवात्मा की चेतना में शाश्वत के वैभव से बने हुए प्रकाश को माया के अत्यधिक मोटे परदे के कारण पूरा ग्रहण लग जाता है और हमें उसकी पूर्ण चमक-दमक की महिमा से वंचित कर देता है। नरक, पाताल, पृथ्वी, स्वर्ग, चंद्रलोक, सौरलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक—ये सब कल्पनाएं और स्वप्न हैं, चूंकि वे सब स्वयं जीवात्मा के अंदर हैं और उसके बाहर केवल चित्रों और आकृतियों में रहते हैं; फिर भी जबतक हम स्वप्न-द्रष्टा हैं, तबतक हम स्वप्न की भाषा और विचारों में ही बोलें और सोचें।

तो यह है आसुरी जगत्। जब कोई मनुष्य बहुत अधिक पीड़ा या दुःख या भयंकर मानसिक उथल-पुथल में मरता है और उसके अंतिम विचार भय, क्रोध, कष्ट या संत्रास के होते हैं तो जीवात्मन् अपने मन से सूक्ष्म-शरीर के इन संस्कारों को बरसोंतक नहीं झाड़ सकता, हो सकता है कि वे शताब्दियोंतक चलते रहें। आत्मघात के साथ भी यही बात है। आदमी घृणा, अधैर्य, पीड़ा, क्रोध, भय के भावों के कारण आत्म-हत्या में डुबकी लगाता है, ये चीजें उसके अंतिम क्षणों में उसपर राज करती हैं। आत्महत्या समाधि में केंद्रित योगी का नियत समय पर आवेगहीन दिव्य प्रयाण नहीं है बल्कि आवेशमय और जुगुप्सापूर्ण प्रयाण है और प्रयाण की बेल में जहां आत्मा की उथल-पुथल या कटुता हो, उस अवस्था में जहां आदमी जा रहा है, कोई शांति या मधुरता नहीं हो सकती। यह मृत्यु का विधान है; मृत्यु तीव्र एकाग्रता का क्षण है जब बिदा लेती हुई आत्मा अपने मर्त्य जीवन के संस्कारों को इकट्ठा करती है जैसे कोई सेना अपनी यात्रा के लिये खाना इकट्ठा करती है, और उस क्षण जो संस्कार प्रबल हों वे ही उसकी भावी अवस्था पर शासन करते हैं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

“हे कौन्तेय ! आदमी मन के जिन सामुदायिक संस्कारों को याद करते हुए अंत में अपना शरीर छोड़ता है वह उसी अवस्था में जाता है, किसी और में नहीं; और वह सदा उन्हीं संस्कारों के प्रभाव में रहता है।” तो इस तरह, मुक्ति से भिन्न, शुद्ध और उदात्त जीवन जीने और शांत तथा सबल मृत्यु मरने का महत्त्व है। क्योंकि अगर उस समय जो भाव या संस्कार सबसे ऊपर रहें वे ऐसे हों जो आत्मा का संपर्क इस स्थूल शरीर और प्राणिक क्रियाओं, मन की घटिया, नीच, भ्रष्ट और निम्न कामनाओं के साथ रखें तो आत्मा लंबे समयतक अंधकार और कष्ट की तामसिक स्थिति में रहती है जिसे हम पाताल कहते हैं या जिसका तीव्र रूप है नरक। अगर सबसे ऊपर के भाव और संस्कार ऐसे हैं जो आत्मा का संपर्क मन की उच्चतर कामनाओं के साथ जोड़ते हैं तो आत्मा झट से प्रकाश और सुख की राजसिक स्थिति में चली जाती है जिसे स्वर्ग, बहिस्त या पैरेडाइज़ कहते हैं, जिससे वह फिर से शरीर में मर्त्यता की स्थिति में लौट आयेगी। अगर उच्चतम भाव और संस्कार ऐसे हैं जो उच्चतर समझ और आत्मा के आनंद के साथ मेल खाते हैं तो आत्मा तेजी से उच्चतम आनंद की स्थिति में जा पहुंचती है जिसे हम कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक या ब्रह्मलोक कहते हैं, जहां से वह जगत् के इस कल्प में नहीं लौटती। लेकिन अगर हमने हमेशा के लिये आत्मा के साथ आत्मा का तादात्म्य साधना सीख लिया है तो मृत्यु से पहले हम शाश्वत बन जाते हैं और मृत्यु के बाद उससे भिन्न न होंगे। माया की तीन स्थितियां हैं : तामसिक माया, राजसिक माया और सात्त्विक माया। हमें उत्तरोत्तर हर एक को पार करना पड़ेगा, तब जाकर हम वहां पहुंच सकते हैं जो माया या भ्रम नहीं है, बल्कि एक शाश्वत सत्य है। और समाधि-अवस्था में अपना शरीर छोड़कर हम अव्यक्त, अमर आनंद में उठ जाते हैं जिसे भगवान् ने अपना “परम धाम” बतलाया है।

७—सिंहावलोकन

ईशोपनिषद् युक्तियुक्त रूप से चार भागों में बंटा हुआ है। यहां पहले तीन मंत्रों की व्याख्या की जा चुकी है। वे हमें कर्मयोग के वे पहले तत्त्व

बतलाते हैं जिन्हें अपने आदर्श की ओर उन्नति करते हुए कर्मयोगी की मानसिक अवस्था और उसके कर्मों पर शासन करना चाहिये। अगले पांच मंत्रों में हम देखेंगे कि उपनिषद् कर्ममार्ग के अंतिम लक्ष्य का निरूपण करता है और जब योग पूरा हो जाये और जब वह सचमुच योगी, पूर्णता की खोज में साधक न रहकर सिद्ध या पूर्ण पुरुष बन जाये तब उसके मन और भावमय भाग की आदर्श स्थिति का चित्रण करता है।

उसके साधक रहते हुए ही उसके मन पर शाश्वत के महान् ईश और स्वामी के भाव का राज्य होना चाहिये जो सारे विश्व में व्यापक है और उसे घेरे हुए है। उसे ईश को सबमें और सबके चारों ओर देखना चाहिये जो प्रत्येक वस्तु को अनुप्राणित करता और घेरे रहता है। वह जो कुछ देखता है उस सब पर उसे उसी उपस्थिति का प्रभा-मंडल डालना चाहिये, सभी प्राणियों और वस्तुओं में उसे प्रभामंडल और प्रकाश देखना चाहिये।

उसका मन यूँ भगवान् की सर्वव्यापकता से शासित हो तो उसे लालसा और कामना नहीं होनी चाहिये—नहीं हो सकती क्योंकि भगवान् को पाकर उसके पाने के लिये रह ही क्या जाता है? वह कौन-सी चीज है जिसके लिये वह लालसा या कामना कर सकता है? वह किसीको चोट नहीं पहुँचा सकता और न ही उन्हें अपनी संपत्ति से वंचित कर सकता है क्योंकि और लोग हैं ही कौन? क्या वे उससे भिन्न हैं? कर्ममार्गी को कामना त्यागने की कोशिश करनी चाहिये और निःस्वार्थता उसके जीवन और कर्मों का विधान हो। औरों में भगवान् को देखकर स्वभावतः वह उनसे प्रेम करेगा और उनकी सेवा करने की कोशिश करेगा। कामना को अस्वीकार करके वह उस परम संतुष्टि को पायेगा जिसकी मांग उसके अंदर स्थित दिव्यता करती है और भाव में जगत् को त्याग करके वह सारे जगत् का अपने राज्य की तरह भोग करेगा। कुछ थोड़े-से कटे-छंटे, क्षण-भंगुर सीमित सुखों को गले लगाने की जगह वह गहरे अक्षुब्ध आनंद के साथ समस्त जगत् का भोग करेगा।

और लोग जो चाहे करें, कर्ममार्गी को अपने-आपको कर्म-क्षेत्र से हटाना या जगत् में कर्म का त्याग न करना चाहिये। उससे यह नहीं कहा जाता कि

वह भोग की वस्तुओं को त्याग दे, बल्कि यह कि वह उनपर ऐसे हृदय से अधिकार करे जो लालसाओं और आवेगों से शुद्ध कर लिया गया हो। उसे संघर्ष से भागना न चाहिये बल्कि इस जगत् में अपना काम इस भाव के साथ करना चाहिये। उसे जीवन को बंधन मानकर उससे कतराना भी न चाहिये। उसे यह अनुभव करना चाहिये कि जो भगवान् से भरा है उसके लिये कोई बंधन नहीं होता, क्योंकि भगवान् बद्ध नहीं, मुक्त हैं। इसलिये उसे अपने जीवन को जीने और अपने कर्म को करने के लिये शांति के साथ और बिना कामना के तैयार रहना चाहिये। उसे अपने जीवन और कर्मों द्वारा बस यही खोज करनी चाहिये कि वह उसके निकटतर पहुंच सके जो जीवन का ईश और समस्त कर्मों का स्वामी है।

वह जीवन के लिये घृणा को अपने ऊपर इतना अधिकार कभी न पाने देगा कि वह धरती पर अपने दिन कम करके छुटकारा पाये। क्योंकि आत्महत्या इस जगत् में प्रपंचात्मक सत्ता के लिये छुटकारा नहीं है। वह सत्ता को पार्थिव जीवन आत्मा के लिये जो उपाय कर सकता है उससे माया की कहीं अधिक अंधकारमय और कहीं अधिक भयंकर कारा में धकेल देती है।

अगर उसकी प्रकृति इस अनुशासन की महानतातक विस्तृत हो सके, अगर उसकी आंखें कभी भगवान् को आंखों से ओझल न होने दें, अगर वह अपने साथी-मनुष्यों में भगवान् का दर्शन कर सके, अगर वह अपनी सत्ता को उसके काम और लोभ से खाली कर सके, अगर वह आवेग के बिना, निस्स्वार्थ भाव से जगत् की सारी महिमा, आनंद और सुंदरता को अपना अनुभव कर सके, अगर वह जगत् में अपने कर्म, चाहे वे कितने भी महान् या तुच्छ क्यों न हों, अपने लिये नहीं बल्कि मनुष्य में स्थित भगवान् और जगत् में स्थित भगवान् के लिये कर सके, अगर वह अपने कर्मों में अहं-भाव का हनन कर सके और यह अनुभव कर सके कि वे उसके अपने नहीं, ईश के हैं, अगर वह अपने अंदर से भीरु की मृत्यु के लिये लालसा और भीरु का मृत्यु से कतराना समान रूप से दूर कर सके, न तो दीर्घायु के लिये व्याकुल हो न उसके आडंबर और उसकी परेशानियों के प्रति अधीरता को सहे, बल्कि बहादुरी से अपना पूरा जीवन संतुलित भाव से, निस्स्वार्थ

होकर, महानता के साथ जिये तो वस्तुतः वह कर्मयोगी बन जाता है जो सदा शाश्वत के और सर्वशक्तिमान् उपस्थिति के निकट रहता है, जो मुक्त भाव से भगवान् में विचरण करता है, जो प्रति मुहूर्त उनकी दिव्य उपस्थिति के अधिकाधिक निकट होता जाता है, ईश की पवित्रता, महानता, शक्ति और सौंदर्य के अपने आध्यात्मिक बिंब में अधिकाधिक उनके सदृश बनता जाता है। भगवान् से उनके जगत् में प्रेम करना और अपने अंदर भगवान् की ओर बढ़ना, यही कर्मयोगी का अनुशासन है। सभी सृष्ट वस्तुओं को अपने हृदय के आलिंगन में लेना और अपनी आत्मा में दिव्य रूप से भगवान् बन जाना, यही उसका लक्ष्य और आदर्श है।



हमारे प्रकाशन

माताजी और श्रीअरविंद के बारे में :

बच्चों के श्रीअरविंद—छोटे बच्चों के लिये	...	२.००
हमारी मां		२.००
श्रीअरविंद और उनका आश्रम		५.००
श्रीअरविंद—जीवन और दर्शन		१०.००
माताजी—एक झलक		१०.००
श्वेत कमल—माताजी का परिचय		४५.००
लाल कमल—श्रीअरविंद का परिचय		३५.००
माताजी और श्रीअरविंद अपने बारे में	...	३.००
माताजी और श्रीअरविंद—दोनों का परिचय	...	२५.००
१५ अगस्त (स्वप्न और सिद्धियाँ)—१५ अगस्त के बारे में श्रीअरविंद के कुछ वार्तालाप	...	५.००
माताजी की चित्रावली	...	४.००



श्रीअरविंद की संस्कृत कृतियां :

सप्तचतुष्टय—साधनासंबंधी संस्कृत सूत्र और अंग्रेजी व्याख्या का अनुवाद, श्रीअरविंद का उपनिषद् और उनके मंत्र भवानी भारती—भारत माता के बारे में संस्कृत काव्य, हिंदी अनुवाद सहित	...	४.००
	...	२.५०

शिक्षासंबंधी माताजी और श्रीअरविंद के लेख :

शिक्षा के आधार	...	५.००
शिक्षा के आयाम	...	६.००
नयी चेतना के लिये नयी शिक्षा	...	१२.००

भारतसंबंधी :

भारत मां की मांग—श्रीअरविंद के वंदे मातरम् में छपे राष्ट्रीयतापरक लेख	...	५.००
माताजी और भारत	...	२.००

योगसंबंधी :

ईशावास्योपनिषद्	...	प्रेस में
ध्यान	...	१०.००
प्रार्थना और मंत्र	...	३.००
गीता की भूमिका	...	१०.००
मृत्यु	...	३.००
जगन्माता	...	४.००
कर्म—कर्म के बारे में माताजी और श्रीअरविंद के कुछ लेख तथा आश्रम में कर्म का व्यावहारिक रूप	...	६.००
अतिमानसिक योग—पुराणीकृत सांध्य वार्ताओं में से श्रीअरविंद के साथ योगसंबंधी बातचीत	...	६.००
श्रीअरविंद—शाश्वत के प्रतिनिधि	...	६.००
माताजी का पत्र-व्यवहार एक कार्यकर्ता से	...	१२.००
चिकित्सा—श्रीमां, श्रीअरविंद के वचनों से संकलित	...	५.००
भय—कारण और उपचार	...	५.००
मनुष्य का मन	...	७.००
योग के तत्त्व	...	१२.००
देवी-देवता	...	१२.००
कारावास की कहानी	...	१४.००

प्रकीर्ण :

प्रकृति की कानाफूसी—माताजी के लेखों से संकलित ...	३.००
नर-नारी—नारी बहुत काल से दासी की स्थिति में रहती आयी है, माताजी इसका कारण और इससे छुटकारा पाने के उपाय बतलाती हैं ...	१०.००
नवजन्म—विशेष अवसरों पर उपहार देने योग्य एक चित्रावली	३.००
राजकुमार, महालक्ष्मी का अवतरण—दो प्रतीकात्मक नाटिकाएँ	२.००

कहानियां जो कुछ और भी कहती हैं :

नया अभियान, गुलदस्ता, नया तराना, काल के गर्भ में	प्रत्येक का दाम ... ३.००
---	--------------------------



संपर्क सूत्र :—

**संपादक अग्रिशिखा एवं पुरोधा, श्रीअरविंद सोसायटी,
पांडिचेरी—६०५००२**



Rs 20.00